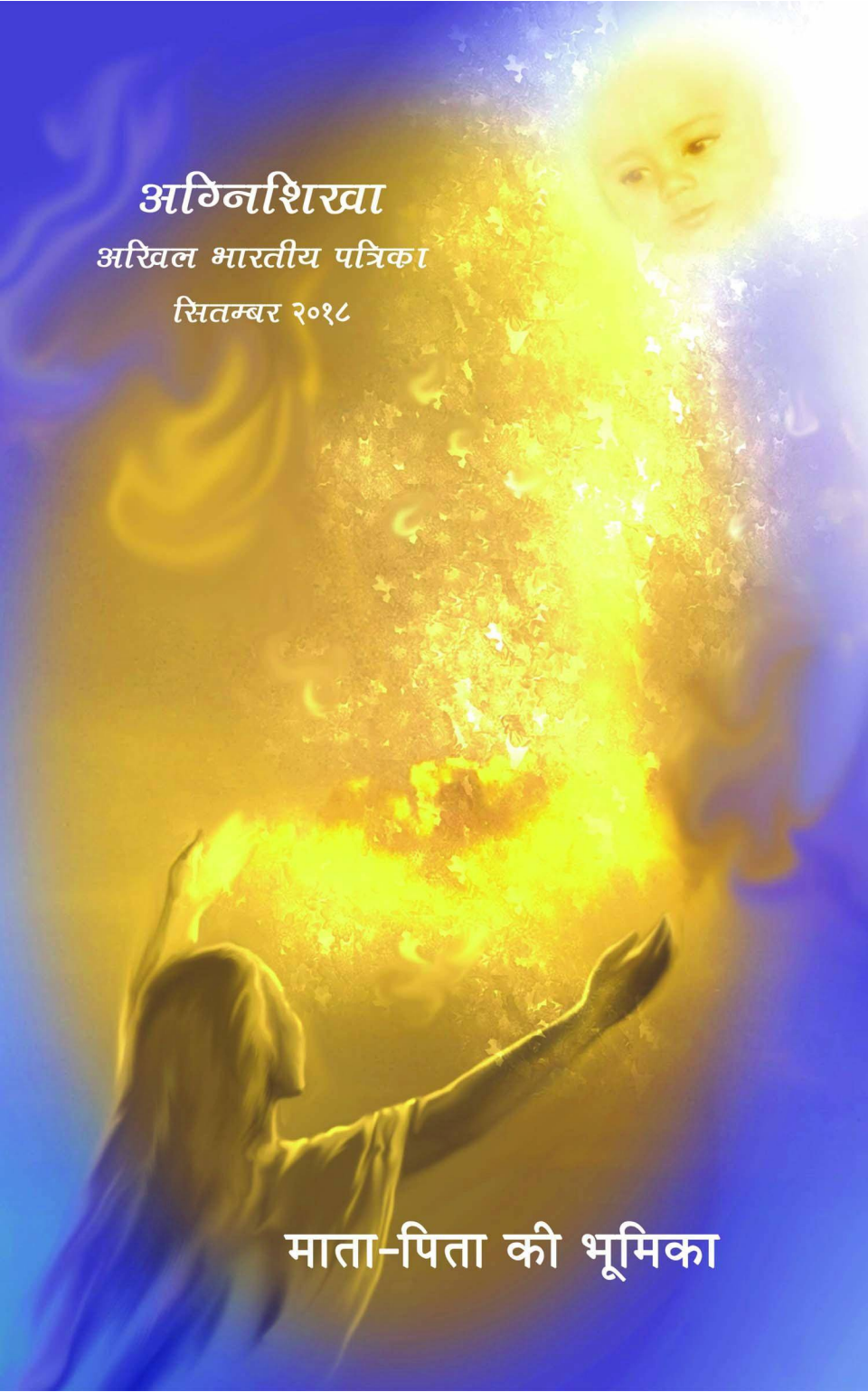
अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका
सितम्बर २०१८
माता-पिता की भूमिका

विषय-सूची

(माता-पिता की भूमिका)

सन्देश/सम्पादकीय		३
स्त्री और पुरुष		५
अभीप्सा और तैयारी		११
सच्चा मातृत्व और माता-पिता का प्रेम		१६
जन्म और चैत्य सत्ता		२०
नारियों से—उनके शरीर के बारे में		३६

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४५
स्वतन्त्र भारत में नारी का स्थान	वन्दना	४९
उन्मुक्त गगन में मुक्त पक्षी की तरह विचरना	नारायण प्रसाद 'बिन्दु'	५२
एक साधिका के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६ से	५४
मैं तो तुम्हारा वन्दन किया करता हूँ...	वन्दना	५७

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

... शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति, विजय, बहुलता और विस्मय...

हे दुःखी और अज्ञानी, प्रिय बालको, हे विद्रोही और उग्र प्रकृति, अपने हृदयों को खोलो, अपनी शक्तियों को शान्त करो, आ रही है प्रेम की सर्वशक्तिमत्ता, प्रकाश की शुद्ध दीप्ति जो तुम्हारे अन्दर प्रवेश कर रही है। यह मानव मुहूर्त, यह पार्थिव मुहूर्त, अन्य सभी मुहूर्तों की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। हर एक व्यक्ति, सभी इसे जानें और दी गयी परिपूर्णता में आनन्द लें। हे दुःखी हृदयो और चिन्ताकुल भौंहो, मूर्खतापूर्ण धुंधलापन और अज्ञानमयी दुर्भावना, तुम्हारा परिताप शान्त हो और मिट जाये।

लो, नवीन वाणी की भव्यता आ रही है : **"यह रही मैं।"**

—श्रीमाँ

सम्पादकीय : बालक के जन्म के पहले से ही माता-पिता को बहुत बड़ी भूमिका निभानी होती है ताकि जिस सन्तान को वे इस धरती पर लाने वाले हैं वह कोई आकस्मिक घटना न होकर, एक सचेतन रचना हो। इसके लिए उन्हें स्वयं सचेतन होकर परम प्रभु का आह्वान करना चाहिये और तीव्र प्रार्थना भी कि उनके बच्चे के निर्माण में प्रभु की सतत सहायता बनी रहे। तभी धीरे-धीरे करके सचेतन सन्ततियों का निर्माण—सुप्रजा जननम् —सम्भव होगा। अतः, सन्तान के इच्छुक माता-पिता को सचमुच स्वयं प्रगति करनी चाहिये और साथ ही उनके अन्दर एक आध्यात्मिक परिवर्तन भी आना चाहिये। यह आध्यात्मिक परिवर्तन क्या है और इसे कैसे लाया जा सकता है, ये सब बहुत महत्त्वपूर्ण बातें हैं।

इस अंक में हम श्रीमाँ के वचनों को उद्धृत कर इसी विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास कर रहे हैं।

मैं तेरे असीम प्रेम का विशाल वक्ष हूँ।... मेरी भुजाओं ने दुखिया धरती को अपने आलिंगन में ले लिया है और कोमलता के साथ अपने उदार हृदय से लगा लिया है; और धीरे से परम आशीर्वाद का चुम्बन इस संघर्षरत परमाणु को मिलता है : माँ का चुम्बन जो सान्त्वना देता और उपचार करता है।...

—श्रीमाँ

स्त्री और पुरुष

स्त्री और पुरुष के बीच का सम्बन्ध

नारी का कार्य पूरी तरह अन्दर, घरेलू कामों तक सीमित रखना और पुरुष को पूरी तरह बाहर के और सामाजिक कार्यों में लगाये रखना और इस प्रकार जिन्हें इकट्ठा होना चाहिये उन्हें अलग करना तो वर्तमान दुःखद स्थिति को हमेशा के लिए स्थायी कर देना होगा; इससे दोनों को समान रूप से कष्ट हो रहा है। ऊँचे-से-ऊँचे कर्तव्यों और भारी-से-भारी ज़िम्मेदारियों के आगे उनके अपने-अपने पृथक् गुणों को घनिष्ठ और विश्वासपूर्ण एकता में मिल जाना चाहिये।

क्या वह समय नहीं आ गया है जब नर और नारी को एक-दूसरे के सामने परस्पर विरोधियों के रूप में संघर्ष का मनोभाव रखना बन्द कर देना चाहिये? राष्ट्रों को कठोर और पीड़ाजनक पाठ पढ़ाया जा रहा है। इस समय खण्डहरों के जो ढेर लग रहे हैं उन पर नयी, ज़्यादा सुन्दर, ज़्यादा सामञ्जस्यपूर्ण इमारतें खड़ी की जा सकती हैं। अब यह दुर्बल प्रतियोगिताओं और स्वार्थपूर्ण अधिकारों की माँग का समय नहीं रहा। सभी मनुष्यों को, स्त्री-पुरुषों को उस उच्चतम आदर्श के बारे में सचेतन होने के साझे प्रयास में सहयोग देना चाहिये जो चरितार्थ होना चाहता है और सबको उसे उपलब्ध करने के लिए बड़े उत्साह के साथ काम करना चाहिये। तो अब जिस प्रश्न को हल करना है, सच्चा प्रश्न केवल उनके बाहरी क्रिया-कलाप के अधिक अच्छे उपयोग का नहीं है, बल्कि सबसे बढ़ कर, आन्तरिक आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है। आन्तरिक विकास के बिना बाहरी प्रगति सम्भव नहीं है।

इस तरह, संसार-भर की सभी समस्याओं की तरह, नारीवाद का प्रश्न भी एक आध्यात्मिक समस्या बन कर लौट आता है, क्योंकि आध्यात्मिक सत्य अन्य सबका आधार है। भागवत जगत्, बौद्ध धर्म की धम्मता, वह शाश्वत आधार है जिस पर अन्य सब जगतों की रचना हुई है। इस 'परम सद्वस्तु' की दृष्टि में सभी, पुरुष-स्त्रियाँ सभी, समान हैं, सभी अधिकारों और कर्तव्यों की दृष्टि से समान हैं। इस क्षेत्र में जो भेद रह सकता है वह सच्चाई और अभीप्सा की तीव्रता और संकल्प की निरन्तरता के आधार

पर होता है। और नर-नारी के सम्बन्ध की समस्या का एकमात्र गम्भीर और चिरस्थायी समाधान इस मौलिक, आध्यात्मिक एकता को जानने और स्वीकारने में है। समस्या को इस प्रकाश में रखना चाहिये, हमारी क्रियाओं का और नव-जीवन का केन्द्र इस ऊँचाई पर खोजा जाना चाहिये, दिव्य मानवता का भावी मन्दिर इसी के चारों ओर बनेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १६५-६६

स्त्रियाँ प्राणिक और भौतिक चेतना के साथ पुरुषों की अपेक्षा अधिक बँधी हुई नहीं होतीं। इसके विपरीत, चूँकि उनमें अक्सर पुरुषों का अक्खड़ मानसिक मिथ्याभिमान नहीं होता, अतः उनके लिए अपने चैत्य पुरुष को खोजना और उसे अपना पथ-प्रदर्शन करने देना ज़्यादा आसान होता है।

सामान्यतः वे ऐसे मानसिक रूप में सचेतन नहीं होतीं जिसे शब्दों में व्यक्त किया जा सके, लेकिन वे अपनी अनुभूतियों में सचेतन होती हैं और उनमें जो सर्वोत्तम होती हैं, वे अपने कर्मों में भी सचेतन होती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३१८

सबसे पहले हम यह मान कर ही चलें कि अभिमान और अविवेक हमेशा हास्यास्पद चीज़ें होती हैं। सिर्फ़ मूर्ख और अज्ञानी ही अक्खड़ और घमण्डी होते हैं। जैसे ही मनुष्य इतना प्रबुद्ध हो जाये कि वह, चाहे कितना भी कम क्यों न हो, विश्व के सर्वव्यापक रहस्य के साथ नाता जोड़ सके, वह निश्चित रूप से नम्र हो जाता है।

स्त्री अपनी सहिष्णुता के कारण ही पुरुष की अपेक्षा ज़्यादा सरलता के साथ सृष्टि में कार्यरत परमा शक्ति का सहज बोध प्राप्त कर लेती है और प्रायः, स्वभावतः अधिक नम्र होती है।

लेकिन नम्रता के इस तथ्य को आवश्यकता कहना ग़लत है। पुरुष को स्त्री की जितनी आवश्यकता होती है, स्त्री को पुरुष की उससे ज़्यादा आवश्यकता नहीं होती; बल्कि ज़्यादा ठीक यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से एक-दूसरे की आवश्यकता होती है।

शुद्ध भौतिक क्षेत्र में भी स्त्रियाँ भौतिक रूप से पुरुषों पर जितनी निर्भर हैं उतने ही पुरुष स्त्री पर निर्भर होते हैं। अगर नम्रता इस निर्भरता का

परिणाम होती तो जहाँ पुरुष नारी पर निर्भर हैं वहाँ पुरुषों को नम्र और स्त्रियों को अधिकारशील होना चाहिये था।

और फिर, यह कहना कि स्त्रियों को विनम्र होना चाहिये क्योंकि इसी तरह से वे पुरुषों को ख़ुश करती हैं, भी ग़लत है। इससे तो यही समझा जायेगा कि स्त्री को धरती पर इसीलिए बनाया गया है ताकि वह पुरुषों को ख़ुश करे—और यह वाहियात है।

सारा विश्व भागवत शक्ति को प्रकट करने के लिए रचा गया है। और मनुष्यों का, स्त्रियों या पुरुषों का, यह विशेष उद्देश्य है कि वे उस 'अनन्त भागवत तत्त्व' के बारे में सचेतन हों और उसे अभिव्यक्त करें। उनका लक्ष्य यही है, कोई दूसरा नहीं। अगर वे, स्त्री और पुरुष, इस बात को जानें और अधिकाधिक याद रख सकें तो वे प्राथमिकता या अधिकार के तुच्छ झगड़ों के बारे में सोचना बन्द कर देंगे और सेवा करने की अपेक्षा, सेवा करवाने में अधिक प्रतिष्ठा न देखेंगे, क्योंकि तब सब अपने-आपको समान रूप से भगवान् का सेवक मानेंगे और हमेशा पहले से ज़्यादा और पहले से अच्छी तरह सेवा करने में ही अपनी प्रतिष्ठा मानेंगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १६७-६८

तीन दासताओं से मुक्ति

जब तक नारियाँ अपने-आपको मुक्त न करें तब तक कोई क़ानून उन्हें मुक्त नहीं कर सकता।

उन्हें जो चीज़ें दास बनाती हैं वे हैं :

१. नर और उसके बल के प्रति आकर्षण,

२. गृहस्थ-जीवन और उससे मिलने वाली निश्चिन्तता की कामना,

३. मातृत्व के लिए आसक्ति।

अगर वे इन तीन दासताओं से मुक्त हो जायें तो वे सचमुच पुरुषों के बराबर होंगी।

पुरुषों में भी तीन दासताएँ होती हैं :

१. आधिपत्य की भावना, शक्ति और अपनी प्रधानता के लिए आसक्ति,

२. स्त्रियों के साथ लैंगिक सम्बन्ध की कामना,

३. विवाहित जीवन की छोटी-मोटी सुख-सुविधाओं के लिए आसक्ति।

अगर वे इन तीन दासताओं से छुटकारा पा लें तो वे सचमुच स्त्रियों के बराबर हो सकते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३१८

प्रेम की परिभाषा

प्रेम लैंगिक सम्भोग नहीं है।

प्रेम प्राणिक आकर्षण और आदान-प्रदान नहीं है।

प्रेम स्नेह के लिए हृदय की भूख नहीं है।

प्रेम सीधा 'एकमेव' से आया शक्तिशाली स्पन्दन है, और केवल बहुत शुद्ध और बहुत मज़बूत व्यक्ति ही उसे पाने और अभिव्यक्त करने के योग्य होते हैं।

पवित्र होने का अर्थ है, और किसी के नहीं, केवल 'परम प्रभु' के प्रभाव के प्रति खुलना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १३७

विवाह का सच्चा अर्थ

अपने भौतिक जीवन और सांसारिक रुचियों को एक करना, जीवन की पराजयों और विजयों, कठिनाइयों और सफलताओं का एक साथ सामना करने के लिए साथी बनना—यह विवाह का पक्का आधार है, लेकिन तुम जानते ही हो कि इतना पर्याप्त नहीं है।

संवेदनों में एक होना, समान रुचि और समान सौन्दर्यात्मक अभिरुचियाँ होना, परस्पर और आपस में समान वस्तुओं में समान रूप से स्पन्दित होना—यह अच्छा है, यह आवश्यक है, लेकिन यह पर्याप्त नहीं है।

गम्भीर भावनाओं में, पारस्परिक स्नेह और कोमलता की भावना में एक होना जो जीवन के सभी धक्कों के बावजूद न बदले और हर तरह की श्रान्ति, विक्षोभ और निराशा को सह जाना, सभी अवस्थाओं में और सभी परिस्थितियों में हमेशा ख़ुश रहना, सभी हालतों में एक-दूसरे की उपस्थिति में विश्राम, शान्ति और आनन्द पाना—यह अच्छा है, बहुत अच्छा है, अनिवार्य है, लेकिन यह पर्याप्त नहीं है।

अपने मस्तिष्कों को एक करना, अपने विचारों को सामञ्जस्यपूर्ण

बनाना और एक-दूसरे का पूरक बनाना, अपनी बौद्धिक अवधारणाओं और खोजों में दोनों का हिस्सा लेना; संक्षेप में, अपने मानसिक क्रिया-कलापों के क्षेत्र को दोनों के द्वारा, एक साथ प्राप्त की हुई समृद्धि के द्वारा, विस्तृत करके एक-सा बनाना—यह अच्छा है, यह एकदम आवश्यक है, लेकिन यह पर्याप्त नहीं है।

इन सबके परे, गहराइयों में, केन्द्र में, सत्ता के शिखर पर, सत्ता का 'परम सत्य' स्थित है, एक 'शाश्वत प्रकाश' जो जन्म, देश, परिवेश, शिक्षा की सभी अवस्थाओं से मुक्त है; हमारी आध्यात्मिक प्रगति के 'वे' ही मूल, कारण और स्वामी हैं; 'वे' ही हमारे जीवन को स्थायी दिशा देते हैं; 'वे' ही हमारी नियति को निर्धारित करते हैं; 'उस' परम की चेतना के साथ तुम्हें एक होना है। अभीप्सा और आरोहण में एक होना, आध्यात्मिक पथ पर क़दम-से-क़दम मिला कर चलना, यही स्थायी ऐक्य का रहस्य है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. २५६-५७

सामान्य जीवन में आधुनिक स्त्री का आदर्श क्या होना चाहिये?[१]

सामान्य जीवन में स्त्रियों के, जो भी वे चाहें, आदर्श हो सकते हैं। इसका कोई अधिक महत्त्व नहीं है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पुरुष और नारी, दोनों ही, भगवान् को प्राप्त करने की सम्भावना में समान हैं, पर प्रत्येक को यह कार्य अपने तरीक़े से, और अपनी सम्भावनाओं के अनुसार करना है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३४८

एक बार तुम 'भागवत प्रेम' को पा लो तो बाक़ी सब प्रेम, जो छद्मवेशों के सिवा कुछ नहीं हैं, अपनी विकृतियों को छोड़ कर शुद्ध हो जाते हैं और तब तुम हर व्यक्ति में, हर चीज़ में केवल भगवान् से ही प्रेम करते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १३५

[१] बाद में माताजी ने यह भी कहा था कि सामान्य जीवन में स्त्रियों का आदर्श "अच्छा स्वास्थ्य और सामञ्जस्य है"।

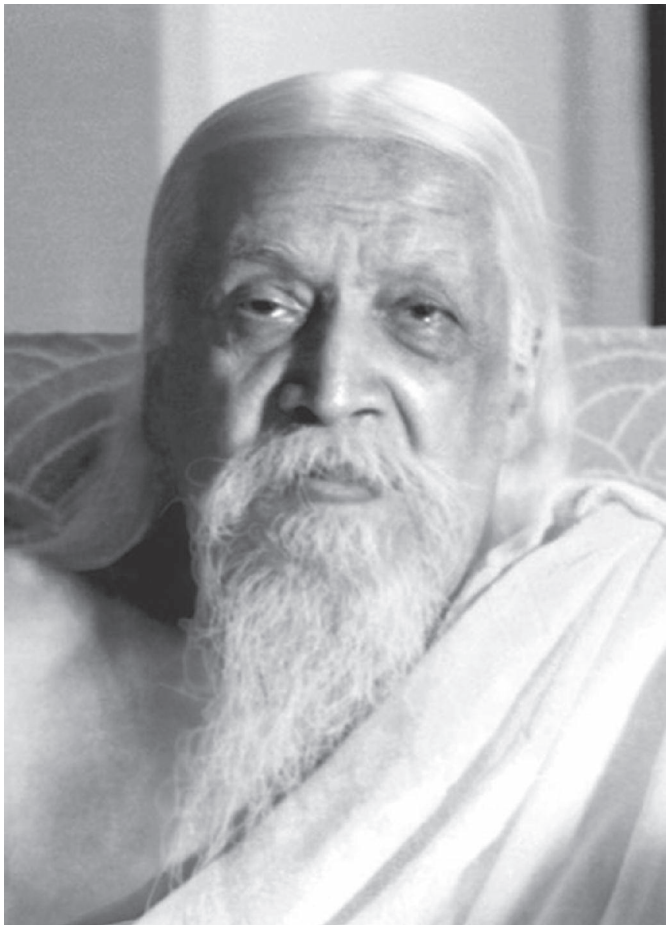

आत्मा अपनी सभी कामनाओं और अपने कष्टों में मातृस्वरूपा आत्मा के पास जाती है और भगवती माता चाहती हैं कि ऐसा ही हो ताकि वे अपना प्रेममय हृदय पूरी तरह से उँडेल सकें। आत्मा उनकी ओर इसलिए भी मुड़ती है कि इस प्रेम का स्वयंसिद्ध स्वभाव ही ऐसा है और इसलिए भी कि यह प्रेम हमें एक ऐसे घर का संकेत देता है जिसकी ओर हम जगत् में भटक चुकने के बाद मुड़ते हैं और एक ऐसे हृदय की ओर इंगित करता है जिसमें हम विश्राम पाते हैं।

—श्रीअरविन्द

अभीप्सा और तैयारी

किसी भी माँ की अभीप्सा, उसके विचारों, भावों, उसके महानतम आदर्शों, उसके संकल्प और उसके भौतिक परिवेश का महत्त्व।

मनुष्य की शिक्षा उसके जन्मकाल से ही आरम्भ हो जानी चाहिये और जीवन-भर चलती रहनी चाहिये। वस्तुतः, यदि हम चाहते हैं कि यह शिक्षा अधिकतम फलदायी हो तो इसे जन्म से पहले ही आरम्भ हो जाना चाहिये। ऐसी दशा में, स्वयं माँ ही इस शिक्षा का प्रारम्भ द्विविध क्रिया के द्वारा करती है : सबसे पहले वह अपनी निजी उन्नति के लिए उसे स्वयं अपने ऊपर आरम्भ करती है, और फिर, उसे बच्चे के ऊपर आरम्भ करती है जिसका शरीर वह अपने अन्दर गढ़ रही है।

यह बात निश्चित है कि जन्म लेने वाले बच्चे का स्वभाव बहुत कुछ उसे उत्पन्न करने वाली माता पर, उसकी अभीप्सा और संकल्प पर निर्भर करता है, और जिस भौतिक वातावरण में वह निवास करती है उसका प्रभाव तो पड़ता ही है। जो शिक्षा माँ को प्राप्त करनी है उसके लिए यह बात ध्यान में रखनी होगी कि उसके विचार सदा सुन्दर और निर्मल हों, भावनाएँ सदा उदार और परिष्कृत तथा चारों ओर का भौतिक वातावरण यथासम्भव सुसमञ्जस और अत्यन्त सादगी से भरा हुआ हो। और अगर इसके साथ ही वह यह सचेतन और सुनिश्चित संकल्प भी रखे कि वह जिस ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श को धारण कर सकती है उसी के अनुसार वह बच्चे को बनायेगी तो ऐसी सर्वोत्तम अवस्थाएँ तैयार हो जायेंगी जिनमें बच्चा अपनी अधिक-से-अधिक क्षमताओं के साथ जन्म ले सकेगा। इस तरह कितने ही कठिन प्रयासों और निरर्थक जटिलताओं से बचा जा सकता है!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १०

गर्भाधान के समय माँ की चेतना की अवस्था एवं अभीप्सा

मधुर माँ, क्या माता और पिता के लिए यह सम्भव है कि जब वे बच्चा पैदा करना चाहें तो वे जिस सत्ता को लाना चाहते हैं, उसकी माँग करें?

माँग? उसके लिए उन्हें गुह्यविद्या प्राप्त होनी चाहिये जो आमतौर पर उन्हें नहीं प्राप्त होती। लेकिन, बहरहाल, जो बात सम्भव है वह यह है कि सहज वृत्ति या कामना से सञ्चालित होकर एक पशु की तरह और अधिकांश समय बिना चाहे ही यह कार्य करने के बदले वे इसे इच्छापूर्वक करें, अभीप्सा के साथ, अपने-आपको अभीप्सा की एक स्थिति में और लगभग प्रार्थना के भाव में रख कर करें ताकि जिस सत्ता को वे निर्मित करने जा रहे हैं वह एक ऐसी अन्तरात्मा के मूर्तिमान् होने के लिए उपयुक्त हो जिसे वे उस आकार में अवतरित होने के लिए **पुकार सकें**। मैं ऐसे लोगों को जानती थी—वे बहुत नहीं थे, ऐसी बात बार-बार नहीं होती, पर फिर भी कुछ को मैं जानती थी—जिन्होंने विशिष्ट परिस्थितियों को चुना, अपने-आपको विशेष प्रकार की एकाग्रता और ध्यान और अभीप्सा के द्वारा तैयार किया तथा जिस शरीर को वे निर्मित करने जा रहे थे उसमें एक असाधारण सत्ता को उतार लाने का प्रयत्न किया।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २४१

कुछ बच्चे दुष्ट होते हैं। क्या इसका यह कारण है कि उनके माता-पिता ने उनके लिए अभीप्सा नहीं की थी?

इसका कारण शायद माता-पिता में एक अवचेतन दुष्टता है। माना यह जाता है कि लोग अपनी दुष्टता को अपने बच्चों में पैदा करके उसे अपने अन्दर से निकाल फेंकते हैं। व्यक्ति के अन्दर हमेशा एक परछाईं रहती है। ऐसे लोग होते हैं जो इसे बाहर प्रक्षिप्त करते हैं—यह उन्हें हमेशा परछाईं से मुक्त नहीं करता, फिर भी शायद उन्हें सान्त्वना मिलती हो! लेकिन उससे "लाभ" होता है बच्चे को, क्या तुम नहीं देखते? यह बिलकुल स्पष्ट है कि उस समय माता-पिता चेतना की जिस अवस्था में होते हैं उसका बहुत अधिक महत्त्व होता है। अगर उनमें तुच्छ और अभद्र विचार हों तो बिलकुल निश्चित है कि बच्चे उन्हें प्रतिबिम्बित करेंगे। और ये सब बच्चे जो विकृत, कुशिक्षित, अशिष्ट, अपूर्ण होते हैं (विशेष रूप से बुद्धि की दृष्टि से : जिनमें छेद होता है और कई चीज़ें ग़ायब होती हैं), ऐसे बच्चे जो अर्ध-सचेतन और अर्ध-निर्मित होते हैं—यह हमेशा गर्भाधान के समय

माता-पिता की चेतना के दोष के कारण होता है। जिस तरह मरणासन्न व्यक्ति की अन्तिम क्षणों की चेतना की अवस्था का उसके भविष्य के लिए बहुत अधिक महत्त्व होता है, उसी तरह, गर्भाधान के समय माता-पिता चेतना की जिस अवस्था में होते हैं वह बच्चे पर एक प्रकार की छाप छोड़ती है जिसे वह जीवन-भर प्रतिबिम्बित करता रहेगा। तो ये बाहरी तौर से इतनी छोटी चीज़ें हैं—उस क्षण की मनोदशा, उस क्षण की अभीप्सा या अधोगति, चाहे कुछ भी क्यों न हो, हर चीज़ जो विशिष्ट समय पर घटती है—वह कितनी नगण्य प्रतीत होती है, और उसका परिणाम कितना बड़ा होता है : वह जगत् में एक ऐसे बच्चे को लाती है जो अपूर्ण या दुष्ट या अन्त में पूरी तरह असफल होता है। और लोग इससे अवगत नहीं हैं।

बाद में, जब बच्चा बुरी तरह व्यवहार करता है तो वे उसे डाँटते हैं। लेकिन उन्हें अपने-आपको डाँटने से शुरू करना चाहिये, अपने-आपसे यह कहते हुए : "जब मैं बच्चे को इस जगत् में लायी तब मैं चेतना की कितनी भयंकर अवस्था में रही होऊँगी।" क्योंकि यह सचमुच ऐसा ही है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४५१-५२

सच्चा मातृत्व—सत्ता के सचेतन निर्माण से शुरू होता है

'मातृत्व' ही स्त्री की सबसे प्रधान भूमिका मानी जाती है। लेकिन इस बात का अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब हम मातृत्व शब्द का ठीक-ठीक अर्थ समझ लें। क्योंकि खरगोश की तरह सहज रूप में, बिना जाने-बूझे, मशीन की तरह बच्चे पैदा करते जाना निश्चय ही मातृत्व नहीं है! सच्चा मातृत्व सत्ता के सचेतन निर्माण से शुरू होता है। नये शरीर में बसने के लिए आने वाली आत्मा के लिए सत्ता को तैयार करना मातृत्व है। इस तरह नारी का सच्चा क्षेत्र आध्यात्मिक है। लेकिन इस बात को हम प्रायः भूल जाते हैं।

केवल बच्चा पैदा करना और उसके लिए अवचेतन रूप से शरीर तैयार कर देना काफ़ी नहीं है। सचमुच काम तब शुरू होता है जब विचार और संकल्प-शक्ति के द्वारा एक ऐसे चरित्र की कल्पना और उसका निर्माण किया जाता है जो किसी आदर्श को मूर्त रूप देने में समर्थ हो।

यह न कहिये कि हमारे अन्दर ऐसा बड़ा काम करने की शक्ति नहीं

है। इस प्रभावशाली शक्ति के अनगिनत उदाहरण प्रमाण के रूप में दिये जा सकते हैं।

सबसे पहले, चारों ओर के भौतिक वातावरण का महत्त्व पुराने ज़माने में भी जाना और माना जाता था। स्त्रियों के चारों ओर कला और सुन्दरता की कृतियों को इकट्ठा करके ही धीरे-धीरे यूनानी लोगों ने अपनी जाति को इतना अधिक सामञ्जस्यपूर्ण बनाया था।

इस तरह के अलग-अलग व्यक्तियों के उदाहरण तो बहुत हैं। ऐसे उदाहरण कम नहीं कि गर्भावस्था में कोई स्त्री किसी सुन्दर चित्र या मूर्ति को बहुत देखा और सराहा करती थी और जब बालक उत्पन्न हुआ तो उसकी शकल उस चित्र या मूर्ति से बहुत मिलती-जुलती थी। स्वयं मैंने ऐसे बहुत-से उदाहरण देखे हैं। उनमें से दो छोटी लड़कियों का उदाहरण मुझे स्पष्ट रूप से याद है। दोनों जुड़वाँ बहनें थीं और पूर्ण रूप से सुन्दर थीं; लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि वे अपने माता-पिता से ज़रा भी न मिलती थीं। उनकी शकलें अंग्रेज़ कलाकार रेनौल्ड के प्रसिद्ध चित्र की याद दिलाती थीं। एक बार मैंने यह बात उनकी माँ के सामने कह दी। उसने झट कहा, "है न उस चित्र के जैसी शकलें! आपको यह जानने में दिलचस्पी होगी कि यह कैसे हुआ? जब ये लड़कियाँ गर्भ में थीं तो मेरे बिस्तर के ऊपर रेनौल्ड के उस चित्र की एक बहुत सुन्दर अनुकृति टँगी रहती थी। रात को सोने से पहले और सवेरे जागते ही मेरी नज़र उसी चित्र पर पड़ती थी और मैं मन-ही-मन यह आशा किया करती थी कि मेरे बच्चों के चेहरे इस चित्र-जैसे होंगे। आप देख सकती हैं कि मैं काफ़ी सफल रही हूँ!" सचमुच यह नारी अपनी सफलता पर गर्व कर सकती थी। उसका उदाहरण दूसरी स्त्रियों के लिए बहुत उपयोगी हो सकता है।

अगर भौतिक जगत् में ऐसे परिणाम आ सकते हैं जहाँ चीज़ें बहुत कम नमनीय होती हैं, तो फिर मनोवैज्ञानिक जगत् की तो बात ही क्या है। वहाँ तो विचार और संकल्प-शक्ति का असर कहीं अधिक होता है। फिर आनुवंशिकता और "पिता पर पूत" की दुहाई क्यों दी जाये। ये बातें इस चीज़ की सूचक हैं कि हम अवचेतन रूप से अपने पुराने ढर्रे को, अपने पुराने चरित्र को ही ज़्यादा पसन्द करते हैं। हम एकाग्रता और संकल्प-शक्ति के द्वारा, अपनी कल्पना के ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श के अनुरूप जाति का

निर्माण कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रयास से मातृत्व सचमुच बहुमूल्य और पवित्र रूप ले लेता है। निश्चय ही इस प्रकार हम आत्मा के भव्य कार्य में प्रवेश करते हैं और नारीत्व साधारण पाशविकता और उसकी सहज वृत्तियों से ऊपर उठ कर वास्तविक मानवता और उसकी शक्तियों की ओर अग्रसर होता है।

तो इस कोशिश, इस प्रयास में ही हमारा सच्चा कर्तव्य है। और अगर यह कर्तव्य हमेशा ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है तो धरती के विकास के वर्तमान मोड़ पर इसका महत्त्व निश्चित रूप से और भी अधिक बढ़ गया है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १७४-७६

गर्भवती माँ के भौतिक, मानसिक, भावनामय तथा आध्यात्मिक परिवेश का महत्त्व

प्राचीन काल के देशों में—और आज भी, कुछ देशों में—जो स्त्री गर्भवती होती थी उसे सौन्दर्य, सामञ्जस्य, शान्ति और सुख-सुविधा की विशेष अवस्थाओं में, पूर्णतः सुसमञ्जस भौतिक अवस्थाओं में रखा जाता था, ताकि यथासम्भव सर्वोत्तम अवस्थाओं में बच्चे का निर्माण हो सके। स्पष्ट ही, ऐसा ही किया जाना चाहिये, क्योंकि यह चीज़ मानवीय सम्भावनाओं की पहुँच के अन्दर है। मानव प्राणी इतने विकसित हो चुके हैं कि ऐसी चीज़ एकदम अपवाद रूप नहीं है। परन्तु फिर भी यह एकदम असामान्य है, क्योंकि बहुत थोड़े-से लोग ही इस बात को सोचते हैं, जब कि ऐसे **अनगिनत** हैं जो न चाहते हुए भी बच्चे पैदा करते हैं।

बस, यही बात थी जो मैं कहना चाहती थी।

किसी अन्तरात्मा को पुकारना सम्भव है, पर मनुष्य को कम-से-कम स्वयं थोड़ा सचेतन होना चाहिये, और फिर सर्वोत्तम अवस्थाओं में मनुष्य जो कुछ करता है उसे करने की इच्छा रखनी चाहिये। यह बहुत विरल है, पर है सम्भव।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २४१-४२

(प्रसव के समय) सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, शान्ति के वातावरण में निश्चल बने रहना ताकि 'शक्ति' बिना किसी बाधा के कार्य कर सके। —श्रीमाँ

सच्चा मातृत्व और माता-पिता का प्रेम

मनुष्यों और पशुओं में माँ की ममता

"फूलों में यह सौन्दर्य, सुगन्ध और स्नेहपूर्ण प्रस्फुटन का उपहार है। और पशुओं में क्या यह भूख, प्यास, अपनाव, विस्तार, प्रजनन, संक्षेप में कहें तो हर सचेतन या अचेतन इच्छा के पीछे नहीं है? और उच्चतर श्रेणियों में क्या यह मादा के अपने बच्चों के लिए आत्म-त्याग-भरे अनुराग में नहीं प्रकट होता?"

... यही मनुष्य में माँ की ममता बन जाता है। फ़र्क बस यही है कि वह अपने बारे में सचेतन होता है। पशुओं में वह प्रायः ही मनुष्यों से ज़्यादा शुद्ध होता है। जानवरों के अपने बच्चों के लिए अनुराग, देखभाल, आत्म-विस्मरण के ऐसे-ऐसे उदाहरण हैं जो एकदम विलक्षण हैं। वहाँ यह सहज होता है, सोची-विचारी योजना के अनुसार नहीं, जानवर इस बारे में सोचता नहीं कि वह क्या कर रहा है। मनुष्य सोचता है। कभी-कभी (कभी-कभी —अधिकतर) यह सोचना क्रिया को बिगाड़ देता है, कभी-कभी यह उसे उच्चतर मूल्य प्रदान करता है, पर यह विरल है। मनुष्य की गतिविधि में पशु की अपेक्षा कम सहजता होती है।

मेरे पास एक बिल्ली थी। पहली बार जब उसने बच्चे दिये तो वह उस जगह से हिलना तक न चाहती थी। न उसने खाना खाया, न प्रकृति की कोई माँग पूरी की। वह वहीं डटी रही, बच्चों के साथ लगी रही, उनकी रक्षा करती रही, उनका पोषण करती रही। उसे भय था कि उन्हें कुछ हो न जाये। और यह सोची गयी योजना के अनुसार नहीं था, सहज था। वह हिलती तक न थी। उसे इतना डर था कि उसके बच्चों को कहीं कुछ हो न जाये—केवल सहज बोध का परिणाम था यह। और फिर, जब वे बड़े हो गये तो उसने उन्हें सिखाने में जो कष्ट उठाया वह अद्‌भुत था। और क्या धैर्य था! और उसने उन्हें अपना आहार पकड़ने के लिए एक दीवार से दूसरी दीवार पर कूदना कैसे सिखाया, कैसे, कितनी सावधानी से, उसने एक बार, दस बार और ज़रूरत पड़ने पर सैकड़ों बार एक ही चीज़ दोहरायी। जब तक छोटा बच्चा, जो वह सिखाना चाहती थी, सीख नहीं

गया तब तक वह थकी नहीं। एक असाधारण शिक्षा! उसने उन्हें दीवारों की मुँडेर पर चलना, बिना गिरे चलना सिखाया और यह बताया कि जब एक दीवार से दूसरी दीवार के बीच अन्तर बहुत हो तो उसे पार करने के लिए क्या करना चाहिये। छोटे बच्चों ने जब वह अन्तर देखा तो वे काफ़ी घबरा गये और उन्होंने डर के मारे कूदने से इन्कार कर दिया (वह उनके लिए अधिक दूरी न थी, पर अन्तर तो था ही और उनकी हिम्मत न हो रही थी), तब माँ कूद गयी। वह दूसरी ओर चली गयी। उसने उन्हें बुलाया : "आओ, चले आओ।" वे हिले तक नहीं, वे काँप रहे थे। वह लौट आयी और उन्हें एक भाषण दे डाला, उसने उन्हें अपने पंजे से हलके चपत लगाये और उन्हें चाटा। लेकिन वे फिर भी न हिले। वह फिर कूदी। मैं आधे घण्टे से भी ज़्यादा उसे ऐसे करते हुए देखती रही। आधे घण्टे के बाद उसने देखा कि उन्होंने काफ़ी कुछ सीख लिया था। उसमें जो सबसे अधिक तैयार और सबसे योग्य लगता था, वह उसके पीछे गयी और उसे अपने सिर से ज़ोर का धक्का दिया। तब वह बिलौटा सहज बोध के साथ कूद गया। वह एक बार कूद चुका तो बार-बार, बार-बार कूदता गया...।

कम ही माँएँ ऐसी होंगी जिनमें यह धीरज हो।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २६८-६९

प्रेमभाव, आत्म-विस्मृति, आत्म-त्याग, धैर्य

मधुर माँ, बच्चों के प्रति माता-पिता का प्रेम किस प्रकार का होता है?

किस प्रकार का? यह भी है तो मानव प्रेम ही, नहीं क्या? जैसे कि और सब मानव प्रेम होते हैं : यह भी सब प्रकार की वस्तुओं के साथ भयानक रूप से मिश्रित रहता है। अधिकृत करने की आवश्यकता, भयानक अहंभाव। पहले तुम्हें बता दूँ, इसकी बड़ी सुन्दर तस्वीर खींची गयी है... इस पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी गयी हैं, बच्चों के प्रति माँ के प्रेम के विषय में बड़ी अद्‌भुत बातें कही गयी हैं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि ख़ूब बढ़ा-चढ़ा कर इस विषय पर बोलने के सिवा, यह प्रेम भी वैसा ही है जैसा उच्चतर पशुओं का, उदाहरणार्थ... चौपायों का अपने बच्चों के साथ होता है, यह बिलकुल वैसा ही है : वही प्रेमभाव, वही आत्म-विस्मृति, वही आत्म-

त्याग, उन्हें शिक्षित करने की वही चिन्ता, वही धैर्य, सब कुछ वही...। मैंने कई बहुत आश्चर्यजनक बातें देखी हैं, और यदि ये सब लिखी जातीं और बिल्ली पर प्रयुक्त न करके स्त्री पर प्रयुक्त की जातीं तो कितने ही सुन्दर उपन्यास बन जाते, लोग कहते: "क्या व्यक्तित्व है यह! मातृप्रेम में ये स्त्रियाँ कितने अद्‌भुत रूप से समर्पित होती हैं!" ठीक ऐसा ही है। बस, बिल्लियाँ लम्बी-चौड़ी बातें नहीं कर सकतीं। इतनी-सी बात है। न वे पुस्तकें लिख सकती हैं, न भाषण दे सकती हैं, भेद केवल इतना ही है। किन्तु मैंने बड़ी आश्चर्यजनक बातें देखी हैं। वही त्याग, वही आत्म-विस्मृति—ज्यों ही प्रेम का आरम्भ होता है, ये बातें आ जाती हैं। किन्तु मनुष्य... जो कुछ मैंने अध्ययन किया है उसके आधार पर मेरा निश्चित विश्वास है कि शायद पशुओं का प्रेम कुछ अधिक पवित्र होता है क्योंकि उनमें सोचने की क्षमता नहीं होती, जब कि मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति, सोचने, तर्क करने, विश्लेषण करने, अध्ययन करने की क्षमता के साथ, यह सब, ओह! वे अत्यधिक सुन्दर भाव को भी नष्ट कर देते हैं। वे हिसाब लगाना, तर्क करना, शंका करना, आयोजन करना आरम्भ कर देते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १२०-२१

बच्चे के प्रति माँ की आसक्ति का भौतिक आधार

तुम्हारी चेतना को बहुत-सी भ्रान्तियों से मुक्त करने का जोखिम उठाते हुए मैं तुम्हें बच्चे के प्रति माँ के प्रेम के स्रोत के विषय में बताती हूँ। इसका कारण है बच्चे का माँ के अपने ही तत्त्व से निर्मित होना, और काफ़ी लम्बे समय तक, अपेक्षया लम्बे समय तक, माँ और बच्चे के बीच का यह स्थूल तत्त्व से बना सम्बन्ध **बहुत घनिष्ठ** होता है—मानों उसका थोड़ा-सा हाड़-मांस ही अन्दर से निकाल कर बाहर, कुछ दूरी पर रख दिया गया हो—और दोनों के बीच का यह बन्धन बहुत दिनों के बाद ही पूरी तरह से कटता है। यह एक प्रकार का सूक्ष्म संवेदन का बन्धन है, इतना कि माँ बच्चे की भावना को बिलकुल वैसे ही ठीक-ठीक समझ लेती है मानों वह उसे अपने अन्दर अनुभव कर रही हो। तो बच्चे के प्रति माँ की आसक्ति का यही भौतिक आधार है। यह भौतिक तादात्म्य का आधार है, उसके सिवा कुछ नहीं। भावना बहुत बाद में आती है (पहले भी आ

सकती है, यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करता है) किन्तु मैं यहाँ अधिकांश व्यक्तियों की बात कह रही हूँ : उनमें भावना बहुत बाद में ही आती है, और उसकी भी कुछ शर्तें होती हैं। उसमें सभी प्रकार की वस्तुएँ होती हैं...। इस विषय पर मैं घण्टों बात कर सकती हूँ : किन्तु फिर भी इस सबको प्रेम के साथ न मिला देना चाहिये। यह एक प्रकार का भौतिक तादात्म्य है जिससे माँ अपने बच्चे की भावना को निकट, बड़े ठोस और प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करती है : यदि बच्चे को कोई आघात लगे, तो, माँ उसे अनुभव कर लेती है। ऐसा कम-से-कम दो महीनों तक तो रहता ही है।

यह आधार है। बाक़ी सब तो लोगों की प्रकृति से, उनके विकास की अवस्था से, उनकी चेतना, शिक्षा एवं अनुभव करने की उनकी क्षमता से आता है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १२१-२२

बच्चों को नौकरों के साथ छोड़ देना

कभी-कभी ऐसा होता है कि माँ अपने बच्चे को अच्छी शिक्षा देती है, लेकिन आस-पास के लोग उसे बिगाड़ देते हैं। तब माँ क्या कर सकती है?

हाँ, यह बिलकुल सच है। सबसे बुरी चीज़ है (जिसे लोग अक्सर करते हैं) अपने बच्चे को नौकरों के साथ छोड़ देना। यह एक अपराध है। क्योंकि इन लोगों की चेतना बिलकुल गँवारू, बिलकुल निम्न और बिलकुल अन्धकारपूर्ण होती है और बिलकुल सहज रूप से, बिना चाहे वे उसे बच्चों में पैठने देते हैं। स्वाभाविक है कि एक आयु होने पर बच्चे पाठशाला भेजे जाते हैं और वहाँ वे बच्चों के ऐसे दल के सम्पर्क में आने लगते हैं जो हमेशा बहुत वाञ्छनीय नहीं होता। इन सम्बन्धों से बच निकलना बड़ा कठिन है। बहरहाल, अगर तुमने जीवन का आरम्भ थोड़ी सचेतनता और बहुत सद्भावना के साथ किया है तो जब तुम ऐसे व्यक्तियों से मिलते हो जिनकी संगति वाञ्छनीय नहीं है तो तुम उसे महसूस कर लेते हो। और अगर तुम्हारे अन्दर सद्भावना हो तो तुम तुरन्त उनसे न मिलने या उनके संग न रहने की कोशिश करते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४५२

जन्म और चैत्य सत्ता

चैत्य सत्ता जिन भौतिक अवस्थाओं और परिवेश को चुनती है

जब महान् आत्माएँ धरती पर जन्म लेना चाहती हैं तो क्या वे ख़ुद अपने माता-पिता चुनती हैं?

ओह! यह उनकी चेतना की अवस्था पर निर्भर करता है, उनकी चैत्य रचना की अवस्था पर निर्भर करता है। यदि उसका चैत्य पुरुष पूर्ण रूप से निर्मित है, यदि वह अपनी सत्ता की पूर्णता पर पहुँच चुका है, और पुनर्जन्म लेने या न लेने के लिए स्वतन्त्र है, तो उसके अन्दर चुनाव की भी क्षमता होती है। लेकिन मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें यह पहले ही समझा चुकी हूँ। जब तक वे आत्माएँ सशरीर नहीं हैं तब तक उनमें हमारी तरह भौतिक दृष्टि नहीं होती। अतः, यह स्पष्ट है कि वे एक ऐसे शरीर की खोज में रहती हैं जो उनके अनुकूल हो और उन्हें अभिव्यक्त करने-योग्य हो। लेकिन भौतिक निश्चेतना को और शरीर के स्थूलतम विधानों को अपना स्थान देना होगा, या यूँ कहें, शरीर के अत्यन्त भौतिक विधानों के अनुकूल बनने की आवश्यकता को अपना हिस्सा देना ज़रूरी है। इसलिए चैत्य की दृष्टि से व्यक्ति जहाँ उत्पन्न होता है उसका काफ़ी महत्त्व है, यह नगण्य ब्योरे से बढ़ कर कुछ है। लेकिन ऐसी बहुत-सी चीज़ें हैं जिनको पहले से देखा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए, तुम एक वातावरण, देश, अमुक प्रकार का परिवार चुनते हो, तुम सम्भाव्य माता-पिता का स्वभाव देखने की कोशिश करते हो, तुम उनमें अमुक पूर्ण विकसित सद्गुणों की और पर्याप्त आत्म-प्रभुत्व की माँग करते हो। लेकिन अगर बाधाओं को पार करने के लिए तुम अपने अन्दर पर्याप्त गतिशीलता का वहन न करो तो यह सब भी काफ़ी नहीं है। तो, सब चीज़ों पर विचार करने के बाद यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। बहरहाल, अच्छी-से-अच्छी परिस्थितियों में भी, चाहे माता-पिता ने सचेतन रूप से साथ दिया हो, फिर भी अवचेतना की विशाल राशि है और उससे भी नीचे निश्चेतना है जो कभी-कभी सतह पर उठती है, उत्तेजित हो जाती है, किये-कराये पर पानी फेर देती है, और शान्ति तथा नीरवता को अनिवार्य बना देती है। हमेशा, हमेशा ही तैयारी

की आवश्यकता होती है, चाहे व्यक्ति ने चुनाव कर लिया हो—एक लम्बी तैयारी की आवश्यकता होती है। और जन्म के समय, शरीर में उतरते समय धक्के से भौचक्के रह जाने की जो अवस्था होती है, जो पूरी तरह पीछा छोड़ने से पहले, काफ़ी लम्बे समय तक चलती है, उसकी तो हम यहाँ बात ही नहीं कर रहे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४५०-५१

जब चैत्य पुरुष संसार में प्रवेश करने को होता है तो क्या वह पहले से ही उस शरीर को चुन लेता है जिसे वह अपनाने वाला है?

यह एक मज़ेदार प्रश्न है। यह निर्भर करता है। जैसा कि मैंने अभी कहा, ऐसी चैत्य सत्ताएँ हैं जो निर्माणाधीन हैं, जो प्रगति के पथ पर हैं; ये सामान्यतः, एकदम शुरू में अधिक चुनाव नहीं कर सकतीं। लेकिन जब वे वृद्धि और चेतना की एक विशेष अवस्था तक आ जाती हैं (सामान्यतः जब वे अभी भौतिक शरीर में ही होती हैं और कुछ मात्रा में अनुभव पा चुकी होती हैं), तब वे निश्चय करती हैं कि उनके अनुभव का अगला क्षेत्र कैसा होगा।

मैं तुम्हें इसके कुछ बाहरी उदाहरण बतला सकती हूँ। उदाहरण के लिए, एक चैत्य पुरुष को प्रभुत्व के, शक्ति के अनुभव की ज़रूरत थी ताकि वह उसकी प्रतिक्रियाएँ जान सके और देख सके कि इन सब गतियों को भगवान् की ओर कैसे अभिमुख किया जा सकता है: यह सीखने के लिए कि सत्ता, अर्थात्, शक्ति का जीवन क्या सिखा सकता है। उसने किसी राजा या रानी में जन्म लिया। उन्होंने सत्ता का कुछ उपभोग किया और उस समय कुछ अनुभव प्राप्त किये। वे अपने अनुभव-क्षेत्र के अन्त तक जा पहुँचे। अब, वे जो जानना चाहते थे जान गये थे। अब वे जाने को हैं, वे अब शरीर छोड़ने की तैयारी में हैं क्योंकि वह बेकार हो गया है और अब वे अगले अनुभव की तैयारी करने वाले हैं। हाँ, तो उस समय, जब चैत्य पुरुष अभी शरीर में ही है और उसने जो कुछ सीखा है उसे अंकित कर लिया है, उस समय वह अगली बार के बारे में निश्चय करता है। कभी-कभी यह क्रिया-प्रतिक्रिया की गति होती है: चूँकि उसने एक पूरे क्षेत्र का अध्ययन कर लिया है, इसलिए अब उसे उसके विपरीत क्षेत्र

का अध्ययन करने की ज़रूरत है। और बहुधा वह अपने पिछले जीवन की अपेक्षा बहुत भिन्न प्रकार का जीवन चुनता है। तो पहला शरीर छोड़ने से पहले वह कहता है: "अगली बार मैं अमुक क्षेत्र में जन्म लूँगा...।" उदाहरण के लिए, मान लो, चैत्य प्रगति की ऐसी अवस्था में पहुँच चुका है जब वह भौतिक शरीर पर काम करने का अवसर चाहेगा ताकि वह उसे सचेतन रूप से भगवान् के सम्पर्क में आने और रूपान्तरित होने में सक्षम बना सके। अब, वह उस शरीर को छोड़ने ही वाला है जिसमें उसके पास अधिकार, सत्ता और गतिशीलता थी, जिस शरीर का उपयोग उसने अपने विकास के लिए किया था; अब वह अपने-आपसे कहता है: "मैं अगली बार एक निरपेक्ष वातावरण में जन्म लूँगा, न ऊँचा, न नीचा, जहाँ (इसे कैसे कहा जाये?) बहुत ज़्यादा बाहरी जीवन की ज़रूरत न पड़े, जहाँ न बहुत शक्ति होगी, न बहुत दरिद्रता—एकदम निरपेक्ष, जैसा तुम जानते हो, बीच का जीवन।" यह उसे चुनता है। वह आवश्यक विश्राम के लिए, प्राप्त अनुभव को आत्मसात् करने के लिए, भावी अनुभूतियों की तैयारी करने के लिए अपने चैत्य लोक में लौटता है। स्वभावतः उसे अपने चुनाव की याद होती है, और अब, फिर से नीचे आने के पहले, आत्मसात् कर लेने पर, जब नीचे लौटने का, धरती पर आने का समय होता है, वह उस क्षेत्र से भौतिक चीज़ों को उस रूप में नहीं देख सकता जिस रूप में हम देखते हैं: वहाँ से वे उसे एक और ही रूप में दीखती हैं, समझे? फिर भी भेदों को पहले से देखा जा सकता है: वातावरण का भेद, वातावरण में क्रियाशीलता का भेद, स्पष्ट दिखायी देता है। वह पूरी तरह दृष्टिगोचर होता है। उसमें समग्र या सार्वभौम दृष्टि हो सकती है। वह चुनाव कर सकता है। कभी-कभी वह देश का भी चुनाव करता है; जब वह अमुक प्रकार की शिक्षा, सभ्यता, प्रभाव चाहता है तो वह पहले से ही देश का चुनाव कर सकता है। कभी-कभी वह नहीं कर पाता, वह केवल वातावरण चुनता है और यह चुनता है कि वह किस प्रकार का जीवन जीना चाहेगा। और फिर वहाँ से, ऊपर से, नीचे आने के पहले, वह अपनी पसन्द के स्पन्दन खोजता है; वह उन्हें बहुत स्पष्ट देख सकता है। यह ऐसा होता है मानों वह उस जगह पर निशाना लगा रहा हो जहाँ वह उतरना चाहता है। लेकिन यह कुछ-कुछ अन्दाज़ ही रहता है क्योंकि एक और शर्त भी पूरी

होनी चाहिये : केवल उसका चुनाव नहीं, नीचे से ग्रहणशीलता और एक अभीप्सा भी चाहिये। उसने जो वातावरण चुना है उसमें कोई ऐसा होना चाहिये, साधारणतः माँ (कभी-कभी माता-पिता दोनों, परन्तु माँ अनिवार्य है), जिसमें ग्रहणशीलता और अभीप्सा हो, कोई ऐसी चीज़ हो जो काफ़ी निष्क्रिय होते हुए भी खुली हुई हो या जिसमें किसी उच्चतर वस्तु के लिए सचेतन अभीप्सा हो। वह चीज़ चैत्य पुरुष के लिए एक छोटी-सी ज्वाला जगा देती है। उस समस्त समूह में जो उसके लिए उस वातावरण का प्रतिनिधि है जिसमें वह जन्म लेना चाहता है, स्वयं उसके प्रक्षिप्त संकल्प के प्रभाव से कोई छोटी-सी ज्योति जाग जाये तो वह जान लेता है कि उसे वहीं जाना चाहिये।

यह ज़रूरी है। यह चीज़ दिनों और महीनों का फ़र्क पैदा करती है, शायद बरसों में इतना अधिक नहीं, और इसी कारण वह इसकी ठीक तारीख़ नहीं दे सकता : "मैं फ़लाने दिन, फ़लानी तारीख़ को, फ़लाने समय जन्म लूँगा।" उसे किसी ग्रहणशील व्यक्ति की ज़रूरत होती है। जब वह उसे देखता है तो नीचे की ओर लपकता है। लेकिन जो होता है वह कुछ-कुछ बिम्ब के जैसा होता है : वह ठीक वही नहीं होता, पर कुछ-कुछ उससे मिलता-जुलता। वह अपने-आपको नीचे, निश्चेतना में, फेंक देता है, क्योंकि भौतिक जगत्, मानव चेतना तक, चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, चैत्य चेतना की तुलना में बहुत ही निश्चेतन होता है। इसलिए चैत्य पुरुष निश्चेतना में तेज़ी से घुस पड़ता है, मानों सिर के बल गिरा हो। इससे वह अचेत-सा हो जाता है। और इसीलिए साधारणतः, कुछ बहुत, बहुत ही विरले अपवादों को छोड़ कर, बहुत लम्बे समय तक वह कुछ नहीं जानता। उसे पता नहीं रहता कि वह कहाँ है, क्या कर रहा है या वहाँ क्यों है, वह कुछ नहीं जानता। उसे अपने-आपको अभिव्यक्त करने में बहुत कठिनाई होती है, विशेषकर एक ऐसे शिशु के द्वारा जिसमें कोई मस्तिष्क नहीं है। स्वभावतः शिशु में मस्तिष्क के अंकुर ही होते हैं जिसने अभी रूप नहीं के बराबर लिया है, जिसमें अपने-आपको प्रकट करने के तत्त्व नहीं होते। इसलिए बालक का अपने अन्दर धारण किये हुए विशेष व्यक्तित्व को जल्दी अभिव्यक्त कर सकना बहुत, बहुत विरल होता है...। यह होता है। हमने ऐसी बातों का वर्णन सुना है। यह होता है, पर साधारणतः कुछ समय की

ज़रूरत होती है। वह धीरे-धीरे ही अपने व्यामोह में से जगता है और जान पाता है कि वह यहाँ किसी कारण से और अपने ही चुनाव से आया है। और सामान्यतः यह उस समय होता है जब बहुत अधिक मानसिक शिक्षा दी जाती है जो तुम्हें चैत्य चेतना के प्रति पूरी तरह बन्द कर देती है। तो परिस्थितियों का रेला, सब प्रकार की घटनाएँ, भावनाएँ और सब प्रकार की चीज़ें तुम्हारे आन्तरिक द्वार खोलने के लिए ज़रूरी हो जाती हैं ताकि तुम यह याद करना शुरू कर सको कि तुम किसी और लोक से आये हो और किसी विशेष कारण से आये हो।

अन्यथा, अगर सब कुछ ठीक-ठीक चले तो सम्बन्ध बहुत जल्दी जुड़ जाता, बहुत जल्दी। अगर भाग्यवश उसे कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाये जिसे थोड़ा-सा ज्ञान है, और वह अज्ञानमय जगत् में गिरने की जगह, ज़रा-से ज्ञान में जा पहुँचे तो सब कुछ बहुत जल्दी हो जायेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २३६-३९

जन्म, अवचेतना में गहरे जमे संस्कार और अपने स्वभाव को बदलने का रहस्य।

क्या एकदम जन्म से ही प्राण विकृत होता है?

यदि तुम्हारा जन्म आकस्मिक न हो तो तुम भली-भाँति यह मान सकते हो कि उसमें कोई विकृति नहीं है, पर जन्म के समय तुम जो कुछ होते हो वह अधिकतर लगभग पूर्णतः वही होते हो जो तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हें बनाया है, और फिर, उनके माध्यम से, जो कुछ तुम्हारे दादा-दादी ने तुम्हें बनाया है। प्रत्येक परिवार में कुछ विशेष प्राणिक परम्पराएँ होती हैं और, इसके अतिरिक्त, चेतना की वह स्थिति होती है जिसमें तुम निर्मित होते हो, गर्भस्थ होते हो—वह क्षण जिसमें तुम गर्भ में आये थे—और वह, लाखों बार में एक बार भी, वह अवस्था सच्ची अभीप्सा को पुष्ट नहीं करती; और सच पूछा जाये तो केवल सच्ची अभीप्सा ही तुम्हारे प्राण को सब प्रकार की मिलावटों से शुद्ध रख सकती है, जो प्राणतत्त्व सत्ता का निर्माण करने के लिए आकर्षित हुआ है उसे सब प्रकार की छूत से मुक्त, एक शुद्ध तत्त्व बना सकती है। मेरा मतलब यह है कि यदि चैत्य पुरुष वहाँ प्रवेश

करता है तो वह अपने विकास के अनुकूल तत्त्वों को एकत्र कर सकता है। संसार अभी जैसा है, उसमें वस्तुएँ इतनी अधिक मिली-जुली हैं, हर प्रकार से इतनी अधिक मिल-जुल गयी हैं कि प्राण-तत्त्वों को पर्याप्त शुद्ध मात्रा में प्राप्त करना प्रायः असम्भव है, और इसलिए वे अन्य सभी दूषित सत्ताओं की छूत ग्रहण कर लेते हैं।

मेरे ख़याल से इस विषय में मैं पहले कह चुकी हूँ, मैंने कहा है कि बच्चे के जन्म से पहले माता-पिता में किस प्रकार की अभीप्सा होनी चाहिये; परन्तु जैसा कि मैं कह चुकी हूँ, इस तरह की चीज़ हज़ारों-लाखों उदाहरणों में से एक में भी नहीं होती। किसी बच्चे का इच्छित गर्भाधान अत्यन्त विरल है; अधिकतर यह एक संयोग होता है। असंख्य माता-पिताओं में थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो इतना भी सोचते हैं कि बच्चे को कैसा होना चाहिये; वे यह जानते तक भी नहीं कि बच्चा कैसा होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे स्वयं क्या हैं। वास्तव में बहुत थोड़े-से विशिष्ट लोग ही ऐसे होते हैं जो इसे जानते हैं। अधिकतर समय तो चीज़ें वैसे ही चलती रहती हैं जैसी कि वे चल सकती हैं; कुछ होता भी है तो लोग यह समझते तक नहीं कि क्या हो रहा है। तो, ऐसी परिस्थितियों में तुम कैसे आशा कर सकते हो कि तुम एक ऐसी प्राण-सत्ता के साथ जन्म लोगे जो तुम्हारी सहायता करने के लिए पर्याप्त विशुद्ध होगी? सच पूछो तो मनुष्य कीचड़ के साथ उत्पन्न होता है जिसे जीना आरम्भ करने से पहले उसे साफ़ करना पड़ता है। और एक बार जब तुम आन्तरिक रूपान्तर के पथ पर अच्छे ढंग से पग रख देते हो और सत्ता की अवचेतन जड़ तक गहरे चले जाते हो—जो ठीक माता-पिता से, पुरखों से आता है—तो तुम ठीक देखते हो कि वह क्या है! और सभी, लगभग सभी कठिनाइयाँ वहाँ ही रहती हैं, बहुत थोड़ी-सी चीज़ें ही जीवन के प्रथम वर्षों के बाद हमारी सत्ता में आ जुड़ती हैं। ऐसा किसी भी अनिश्चित मुहूर्त में घटित होता है; यदि तुम बुरी संगत में पड़ते हो या बुरी पुस्तकें पढ़ते हो, विष तुम्हारे अन्दर घुस सकता है; परन्तु सभी संस्कार अवचेतना में हैं जो गहराई तक जड़ें जमाये बैठे हैं, सभी गन्दी आदतें हैं जो तुममें हैं और जिनके साथ तुम संघर्ष करते हो। उदाहरणार्थ, ऐसे लोग भी होते हैं जो कोई झूठ बात बोले बिना अपना मुँह ही नहीं खोल सकते, और वे सर्वदा

ऐसा जान-बूझकर नहीं करते (यह सबसे बुरी बात है), अथवा ऐसे लोग होते हैं जो झगड़ा किये बिना, सभी प्रकार की मूर्खताएँ किये बिना दूसरों के सम्पर्क में नहीं आ सकते—ये सब चीज़ें अवचेतना में विद्यमान हैं, गहराई तक जड़ें जमाये हुए। अब, जब कि तुम्हारे अन्दर शुभेच्छा जगती है, बाहरी जीवन में उन सब चीज़ों से बचने का, उन्हें सुधारने का, यदि सम्भव हो तो तुम भरसक प्रयत्न करते हो; तुम इसके लिए कार्य करते हो, जूझते हो; फिर तुम्हें यह ज्ञात होता है कि यह चीज़ बराबर उभड़ती रहती है, यह किसी ऐसे भाग से उभड़ती है जो तुम्हारे वश के बाहर है। परन्तु तुम यदि इस अवचेतना में प्रवेश करो, यदि तुम अपनी चेतना को उसके अन्दर छन-छन कर भीतर पैठने दो, और सावधानी के साथ नज़र दौड़ाओ तो धीरे-धीरे तुम अपनी सभी कठिनाइयों के सभी मूल स्रोतों का, सभी उद्‌गम स्थानों का पता पा जाओगे; तब तुम यह समझना आरम्भ करोगे कि तुम्हारे माता-पिता, दादा-दादी क्या थे, और यदि किसी समय तुम अपने को वश में करने में असमर्थ होओ तो तुम समझ जाओगे कि "मैं इस प्रकार का इसलिए हूँ क्योंकि वे ऐसे ही थे।"

यदि तुम्हारे अन्दर यथेष्ट जाग्रत् चैत्य पुरुष है और तुम्हारे ऊपर निगरानी रख सकता है, तुम्हारा मार्ग तैयार कर सकता है तो वह तुम्हारी ओर उन चीज़ों को खींच सकता है जो तुम्हें सहायता दे सकें, लोगों को, पुस्तकों को, परिस्थितियों को खींच सकता है, सब प्रकार के छोटे-छोटे संयोगों को खींच सकता है जो तुम्हारे पास इस तरह आते हैं मानों कोई हितैषी संकल्प-शक्ति उन्हें ले आयी हो और तुम्हें निर्णय लेने के लिए एक संकेत, एक सहायता, एक अवलम्ब प्रदान कर रही हो तथा तुम्हें सही दिशा में मोड़ रही हो। परन्तु एक बार जब तुम यह निर्णय ले लेते हो, एक बार तुम अपनी सत्ता के सत्य को खोज निकालने का निश्चय कर चुकते हो, एक बार तुम सच्चाई के साथ मार्ग पर चलना शुरू कर देते हो, फिर ऐसा लगता है कि सभी चीज़ें तुम्हें आगे बढ़ने में सहायता करने के लिए तत्पर हैं, और यदि तुम सावधानी के साथ निरीक्षण करो तो तुम क्रमशः अपनी कठिनाइयों का मूल देखने लगते हो: "ओह! ठहरो एक मिनट, यह कमी मेरे पिता में थी; आह! यह आदत मेरी माता में थी; आह! मेरी दादी इस प्रकार की थीं, मेरे दादा इस प्रकार के थे।" अथवा वह धाई भी

हो सकती है जिसने तुम्हारे बचपन में तुम्हारी देख-भाल की, या भाई और बहनें हो सकती हैं जो तुम्हारे साथ खेले-कूदे, बचपन के मित्र हो सकते हैं जो तुमसे मिले-जुले, और तुम देखोगे कि यह सब इस या उस या अन्य व्यक्ति में था। परन्तु तुम यदि सच्चे बने रहो तो तुम देखोगे कि तुम इस सबको बिलकुल शान्ति के साथ पार कर सकते हो, और कुछ दिन बाद उन सभी ज़ंजीरों को काट सकते हो जिनके साथ तुम पैदा हुए थे, बन्धनों को तोड़ सकते और स्वतन्त्रतापूर्वक पथ पर अग्रसर हो सकते हो।

यदि तुम वास्तव में अपने चरित्र को रूपान्तरित करना चाहते हो तो बस यही चीज़ तुम्हें करनी होगी। हमेशा से ही यह कहा गया है कि अपने स्वभाव को बदलना असम्भव है; दर्शन के, यहाँ तक कि योग के सभी ग्रन्थों में एक ही कहानी कही गयी है : "तुम अपना चरित्र नहीं बदल सकते, तुम वैसे ही पैदा हुए हो, तुम वैसे ही हो।" यह एकदम ग़लत है, मैं विश्वास दिलाती हूँ कि यह मिथ्या है; परन्तु एक चीज़ है जिसे अपने चरित्र के परिवर्तन के लिए करना बहुत कठिन है, क्योंकि वास्तव में तुम्हें अपने चरित्र को नहीं, बल्कि अपने पूर्ववर्ती पुरुषों के चरित्र को भी बदलना होगा। उनके अन्दर तुम इसे नहीं बदल पाओगे (क्योंकि उनमें ऐसी इच्छा नहीं है), बल्कि स्वयं अपने अन्दर ही तुम्हें इसे बदलना होगा। यही चीज़ उन्होंने तुम्हें दी है, ये ही सब छोटे-छोटे उपहार—सुन्दर उपहार—उन्होंने तुम्हें तुम्हारे जन्म के समय दिये हैं, इन्हीं चीज़ों को तुम्हें परिवर्तित करना होगा। परन्तु तुम यदि इन चीज़ों के सूत्र को, सच्चे सूत्र को पकड़ पाने में सफल होओ, क्योंकि तुमने लगन और सच्चाई के साथ इसके लिए कार्य किया है तो एक शुभ मुहूर्त में तुम मुक्त हो जाओगे; ये सब चीज़ें तुमसे झड़ जायेंगी और तुम बिना किसी बोझ के जीवन की एक नयी शुरुआत कर सकोगे। तब तुम एक नवीन मनुष्य हो जाओगे, एक नवीन जीवन यापन करोगे, लगभग एक नवीन स्वभाव के साथ। और तब यदि तुम पीछे की ओर ताको तो तुम कहोगे, "यह सम्भव नहीं है, मैं कभी ऐसा नहीं था!"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३०९-१२

चैत्य पूर्णता का अर्थ है, सभी परिस्थितियों पर मुस्कुराना।

—श्रीमाँ

चैत्य पुरुष : विकासक्रम का परिणाम है

चैत्य पुरुष एक विकासक्रम का परिणाम है, यानी, उस दिव्य 'चेतना' के विकासक्रम का जो जड़-तत्त्व में फैल गयी और धीरे-धीरे उसे उठाने लगी। उसे भगवान् तक लौटाने के लिए विकसित करने लगी। इस दिव्य केन्द्र ने बहुत सारे जन्मों में उत्तरोत्तर इस चैत्य पुरुष की रचना की।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २९१

पुनर्जन्म में चैत्य सत्ता ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है

पुनर्जन्म में बाहरी सत्ता, जो माता-पिता, परिवेश और परिस्थितियों के द्वारा बनती है—मन, प्राण और भौतिक—का दुबारा जन्म नहीं होता : केवल चैत्य सत्ता ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है। अतः, यह तर्कसंगत है कि न मानसिक और न ही प्राणिक सत्ता पूर्व जन्मों को याद कर सकती है, न ही इस या उस व्यक्ति के चरित्र या जीवन की पद्धति में अपने-आपको पहचान सकती है। केवल चैत्य सत्ता ही याद रख सकती है; और अपनी चैत्य सत्ता के प्रति सचेतन होकर ही हम अपने पिछले जन्मों के बारे में ठीक-ठीक जान सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, हम जो बन चुके हैं उसकी अपेक्षा हम जो बनना चाहते हैं उस पर अपनी एकाग्रता स्थिर करना हमारे लिए कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १३७

चैत्य सत्ता : सत्ता के सभी भागों को अपने प्रभाव में लाने का महत्त्व

अगर मन, प्राण और शरीर का पुनर्जन्म नहीं होता, केवल चैत्य ही फिर से जन्म लेता है तो मन, प्राण की प्रगति का अगले जन्म में कोई महत्त्व नहीं होता?

यह उसी हद तक होता है जहाँ तक कि इन भागों की प्रगति उन्हें चैत्य के निकट लाती है, यानी, जहाँ तक यह प्रगति सत्ता के इन भागों को उत्तरोत्तर चैत्य-प्रभाव में लाती है। क्योंकि वह सब जो चैत्य-प्रभाव में है और चैत्य के साथ एक हो गया है, वह बना रहता है और केवल वही बना रहता है।

लेकिन, अगर चैत्य को अपने जीवन और अपनी चेतना का केन्द्र बनाया जाये और सारी सत्ता को उसी के चारों ओर संगठित किया जाये तो सारी सत्ता चैत्य-प्रभाव में आ जाती है और फिर वह बनी रह सकती है—यदि उसका बना रहना आवश्यक हो। वस्तुतः, यदि भौतिक शरीर को भी उसी प्रकार की गति दी जा सके—प्रगति की वही क्रियाएँ और आरोहण की वही क्षमता दी जा सके जो चैत्य पुरुष में है—तो उसका विघटन ज़रूरी न होगा। लेकिन वही वास्तविक कठिनाई है।

और केवल वही बना रह सकता है जिसका चैत्य के साथ सम्पर्क हो, और जो बना रह सकता है केवल वही याद रख सकता है, क्योंकि बाक़ी सब लुप्त हो जाता है, फिर से छोटे-छोटे टुकड़ों में विघटित हो जाता है और कहीं और काम में आता है—जैसे शरीर फिर से मिट्टी बन जाता है और कहीं और काम आता है। वह फिर से धरती में चला जाता है, वनस्पतियाँ मिट्टी का उपयोग करती हैं और मनुष्य वनस्पतियों को खाते हैं। चीज़ इसी तरह चलती रहती है। और वह फिर से धरती में लौट आती है और पुनः शुरू करती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३९४-९५

पुनर्जन्म, तथा मृत्यु के समय चेतना की अवस्था का महत्त्व

... मैं तुमसे कई बार कह चुकी हूँ कि मृत्यु के बाद की नियति के लिए, साधारणतः, चेतना की अन्तिम अवस्था सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। यानी, अगर मरते समय किसी के अन्दर यह तीव्र अभीप्सा हो कि वह लौट कर अपना काम जारी रखे, तो उसके लिए ऐसी अवस्थाओं की व्यवस्था कर दी जाती है। लेकिन, देखो, मृत्यु के उपरान्त क्या होता है इसके लिए सब प्रकार की सम्भावनाएँ हैं। ऐसे लोग हैं जो चैत्य में लौट जाते हैं। मैं तुम्हें बता चुकी हूँ कि बाहरी सत्ता का बने रहना बहुत ही विरल है; इसलिए हम केवल चैत्य चेतना की ही बात करते हैं जो हमेशा बनी रहती है। और फिर ऐसे लोग हैं जिनका चैत्य अपने भावी जीवन की तैयारी के लिए, अपने प्राप्त किये हुए अनुभवों को आत्मसात् करने के लिए चैत्य लोक में चला जाता है। इसमें सदियाँ लग सकती हैं। यह लोगों पर निर्भर करता है।

चैत्य पुरुष जितना अधिक विकसित होगा उतना ही अपनी पूर्ण परिपक्वता के समीप होगा, उतना ही अधिक समय उसके जन्मों के बीच लगेगा। ऐसी सत्ताएँ हैं जो एक हज़ार वर्ष बाद, दो हज़ार वर्ष बाद नया जन्म लेती हैं।

व्यक्ति जितना अधिक चैत्य के निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में होगा, उतने ही जल्दी-जल्दी उसके जन्म होंगे, और कभी-कभी, बिलकुल ही निचले स्तर पर, जब मनुष्य पशु के बिलकुल नज़दीक होता है, तो यह यूँ चलता है *(संकेत)*, यानी, लोगों के लिए यह असाधारण नहीं होता कि वे अपने बच्चों के बच्चे के रूप में जन्म लें, इस तरह, कुछ-कुछ इस तरह, या फिर एकदम अगली ही पीढ़ी में। लेकिन यह हमेशा विकास के बहुत प्रारम्भिक स्तरों पर होता है, जब चैत्य बहुत सचेतन नहीं होता, वह अभी निर्मित हो रहा होता है। और जैसे-जैसे वह अधिक विकसित होता जाता है, वैसे-वैसे, जैसा कि मैंने कहा, उसके जन्म एक-दूसरे से ज़्यादा दूर होते जाते हैं। जब चैत्य पुरुष पूरी तरह विकसित हो जाता है, जब उसे अपने विकास के लिए फिर से धरती पर आने की ज़रूरत नहीं रहती, जब वह पूरी तरह स्वतन्त्र होता है तो उसके सामने कई विकल्प होते हैं, अगर उसे लगे कि उसका काम कहीं और है, या अगर वह शुद्ध चैत्य चेतना में, जन्म लिये बिना रहना अधिक पसन्द करे तो वह धरती पर वापिस ही न लौटे; या वह जब चाहे, जैसे चाहे, जहाँ चाहे, पूर्ण सचेतन रूप में जन्म ले। और फिर ऐसे हैं जो वैश्व क्रम की शक्तियों और 'अधिमानस' की या कहीं और की सत्ताओं के साथ एक हो जाते हैं, जो हमेशा धरती के वातावरण में ही रहते हैं, और कार्य के लिए एक के बाद एक जन्म लेते ही रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस क्षण चैत्य पुरुष पूर्णतया निर्मित हो जाता है और बिलकुल स्वतन्त्र होता है—जब वह पूर्णतया निर्मित हो तो वह पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाता है—तो वह जो करना चाहे कर सकता है, यह इस पर निर्भर करता है कि वह क्या चुनता है; इसलिए तुम यह नहीं कह सकते : "वह ऐसा होगा, वह वैसा होगा", वह ठीक वही करता है जो वह करना चाहे और वह शरीर की मृत्यु के समय यह घोषणा भी कर सकता है (ऐसा हो चुका है) कि उसका अगला जन्म कैसा होगा, वह क्या करेगा, वह तभी चुन सकता है कि वह क्या करेगा। लेकिन इस

स्थिति से पहले, जो बार-बार नहीं आती—वह पूरी तरह चैत्य के विकास की अवस्था और सत्ता की समग्र चेतना की सँजोयी हुई आशा पर निर्भर करता है—मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतना भी है जो चैत्य चेतना के साथ युक्त होती है; तो उस समय, मृत्यु की घड़ी में, शरीर त्याग के क्षण में, वह एक आशा, एक अभीप्सा, एक संकल्प सँजोती है, और साधारणतः यही अगले जीवन का निश्चय करती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ९५-९७

अपने परिवेश तथा परम्परा के विरुद्ध अन्तरात्मा का संघर्ष

पिछले सप्ताह मैंने तुम लोगों से जन्म के बारे में बातचीत की थी: किस प्रकार अन्तरात्मा शरीर में प्रवेश करती है; और मैंने तुमसे कहा था कि लगभग प्रत्येक जीवन के लिए बहुत असन्तोषजनक ढंग से शरीर निर्मित होता है—इसके अपवाद इतने विरल होते हैं कि उनके विषय में मुश्किल से ही कुछ कहा जा सकता है।

मैंने तुम्हें बताया था कि इस अन्धकारपूर्ण जन्म के कारण मनुष्य ऐसी वस्तुओं के एक पूरे भौतिक पुलिन्दे के साथ आता है जिससे मनुष्य को, यदि वह सचमुच प्रगति करना चाहे तो, सामान्यतया उससे उसे पिण्ड छुड़ाना होगा, और किसी ने स्वयं मेरे ही वाक्य को उद्धृत किया है जो इस प्रकार है:

> "तुम बलात् संसार में लाये जाते हो, तुम्हारे ऊपर बलात् एक परिपार्श्विक अवस्था, बलात् परिवेश की परम्परा के विधान लाद दिये जाते हैं...।"

और अब वह व्यक्ति, जिसने मुझे लिखा है, मुझसे पूछता है कि यह सब कौन करता है।

कहा जा सकता है कि, मैं बात को अधिक स्पष्ट कर सकती थी, पर मैंने समझा था कि मैं पर्याप्त रूप में स्पष्ट हूँ।

शरीर एक पुरुष और एक स्त्री के द्वारा निर्मित होता है जो पिता और माता बनते हैं, और ये ही लोग हैं जिनके पास उस सत्ता से, जिसे वे संसार में लाने वाले हैं, यह पूछने का कोई उपाय भी नहीं होता कि वह

आना चाहती है या नहीं अथवा उसका आना उसकी भवितव्यता के साथ मेल खाता है या नहीं। और अपने द्वारा निर्मित इसी शरीर पर वे बलात्, आवश्यकता के वश, एक परम्परा, एक वातावरण, बाद में एक शिक्षा लाद देते हैं, ये सब उसके भावी विकास में लगभग सर्वदा बाधाएँ ही बनते हैं।

अतएव, मैंने यह कहा था और उसे दोहरा रही हूँ—मैंने सोचा था कि मैं काफ़ी स्पष्ट हूँ—कि मैं भौतिक माता-पिता और भौतिक शरीर की बात कह रही थी, उससे अधिक कुछ नहीं। और मैंने यह कहा था कि जो अन्तरात्मा शरीर धारण करती है, चाहे वह विकास के पथ पर हो अथवा पूर्णतः विकसित, उसे इस पाशव जन्म के द्वारा अपने ऊपर आरोपित परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है, संघर्ष इसलिए करना पड़ता है कि वह अपना सच्चा पथ पा ले और अपने निजी स्वरूप को फिर से पूर्णतः खोज निकाले। बस, इतना ही।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २४०-४१

अन्तरात्मा के ऊर्ध्वारोहण में सचेतन सत्ता बनने के लिए हज़ारों वर्ष लग सकते हैं

माताजी, जब कोई शरीर बनता है तो क्या जो अन्तरात्मा वहाँ अवतरित होती है वह उस शरीर में उतरने के लिए विवश होती है?

मैं तुम्हारे प्रश्न को भली-भाँति नहीं समझी।

शरीर का निर्माण पूर्णतः एक पुरुष और एक स्त्री पर निर्भर करता है, परन्तु जो अन्तरात्मा बच्चे में, जो शरीर निर्मित हुआ है उसमें अभिव्यक्त होती है, वह उस शरीर में अभिव्यक्त होने के लिए बाध्य होती है?

तुम्हारा मतलब है कि क्या वह विभिन्न शरीरों में से चुनाव कर सकती है?

जी, हाँ।

सुनो, अन्ततः, इस बृहत् मानव-समुदाय में, यह बात बहुत विरल है कि कोई सचेतन अन्तरात्मा स्वेच्छापूर्वक शरीर ग्रहण करे। यह बहुत ही असाधारण

बात है। मैं पहले ही तुमसे कह चुकी हूँ कि जब कोई अन्तरात्मा सचेतन, पूर्णतः निर्मित होती है और शरीर ग्रहण करना चाहती है तो साधारणतः अपने चैत्य लोक से किसी मिलती-जुलती चैत्य ज्योति के लिए पृथ्वी के किसी विशेष स्थल की ओर अभिमुख होती है। इसके अतिरिक्त, अपने पूर्वजन्म में ही, शरीर छोड़ने से पूर्व, पार्थिव वातावरण छोड़ने से पूर्व, सामान्यतः समाप्त होते हुए जीवन में प्राप्त अनुभव के परिणामस्वरूप, अन्तरात्मा अपने भावी जीवन की अवस्थाओं का लगभग—पूर्ण ब्योरों के साथ नहीं, बल्कि मोटे रूप में—चुनाव कर लेती है। परन्तु ये असाधारण उदाहरण हैं। सम्भवतः यहाँ उपस्थित हमलोगों के लिए इसकी चर्चा की जा सकती है, परन्तु अधिकतर लोगों के लिए, यहाँ तक कि जो लोग शिक्षित हैं, उन लोगों के लिए भी, इस बात की चर्चा करना असंगत है। और तब जो आता है वह एक ऐसा चैत्य पुरुष होता है जो बनने की स्थिति में, न्यूनाधिक रूप में निर्मित होता है, और उसमें स्फुलिंग से लेकर निर्मिति के सभी स्तर होते हैं तथा अन्त में वही स्फुलिंग पूर्णतः निर्मित सत्ता के लिए एक नन्हीं-सी ज्योति बन जाता है, और इसमें हज़ारों वर्षों से अधिक समय लग जाता है। अन्तरात्मा के इस ऊर्ध्वारोहण में हज़ारों वर्ष लग जाते हैं जिसमें वह एक सचेतन सत्ता बनती है, उसका अपना निजी संकल्प होता है तथा अपनी पसन्द का जीवन निर्धारित करने में वह सक्षम होती है।

तो, तुम एक ऐसी अन्तरात्मा की बात पूछना चाहते हो जो कह सके : "नहीं, मैं इस शरीर को अस्वीकार करती हूँ, मैं एक दूसरे की खोज में जा रही हूँ"?... मैं नहीं कहती कि यह असम्भव है—सब कुछ सम्भव है। सचमुच ऐसा होता है कि बहुत-से बालक मृत उत्पन्न होते हैं, जिसका मतलब है कि उनके अन्दर अवतरित होने के लिए कोई अन्तरात्मा नहीं थी। परन्तु यह अन्य कारणों से भी हो सकता है; केवल कुनिर्माण के कारणों से भी ऐसा हो सकता है; हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। मैं नहीं कहती कि यह असम्भव है, पर सामान्यतया, जब कोई सचेतन और मुक्त अन्तरात्मा पृथ्वी पर फिर से शरीर ग्रहण करने का निर्णय लेती है, अपने जन्म के पहले से ही वह उस शरीर पर काम करने लगती है। अतएव, उन असुविधाओं को भी स्वीकार न करने का कोई कारण उसके पास नहीं होता जो माता-पिता के अज्ञान के परिणामस्वरूप हो सकती

हैं; क्योंकि उसने एक विशेष कारण से उस स्थान को चुना है जो कोई अज्ञानमय कारण नहीं था : उसने वहाँ एक ज्योति देखी थी—वह केवल एक सम्भावना की ज्योति हो सकती थी, पर वहाँ एक ज्योति थी और **यही कारण था** कि वह वहाँ आयी है। इसलिए, यह कहना तो ठीक है कि : "आह ! नहीं, मैं इसे नहीं चाहती", परन्तु वह अपनी पसन्द के अनुसार दूसरा शरीर चुनने के लिए कहाँ जायेगी?... यह हो सकता है, मैं नहीं कहती कि यह असम्भव है, परन्तु ऐसा अक़्सर नहीं होता। क्योंकि, जब चैत्य लोक से अन्तरात्मा पृथ्वी की ओर ताकती है और अपने अगले जन्म का स्थान चुनती है, तो वह काफ़ी विवेक-विचार के साथ चुनती है ताकि वह कोई बिलकुल ही भद्दी भूल न कर बैठे।

ऐसा भी हुआ है कि अन्तरात्माओं ने जन्म ग्रहण किया और फिर शरीर छोड़ दिया। वे क्यों चली जाती हैं इसके कई कारण हैं। जो बच्चे बहुत छोटी उम्र में, कुछ दिनों या कुछ सप्ताहों के बाद, मर जाते हैं, वे सम्भवतः किसी ऐसे ही कारण से मरते हैं। अधिकतर यह कहा जाता है कि उस अन्तरात्मा को अपने निर्माण को पूरा करने के लिए बस, थोड़े-से अनुभव की ही आवश्यकता थी, उसे वह अनुभव इन थोड़े-से सप्ताहों में मिल गया और उसने शरीर छोड़ दिया। सब कुछ सम्भव है। अन्तरात्माओं का इतिहास सुनाने के लिए उतनी ही कहानियों की आवश्यकता होगी जितनी कहानियाँ मानवजाति का इतिहास सुनाने के लिए आवश्यक होती हैं। कहने का मतलब, वे असंख्य हैं और उदाहरण एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं जितने कि सम्भव हो सकते हैं।

अतएव, मनमाने ढंग से यह निर्णय करना कि : "यह बात ऐसी है, वैसी नहीं; बस यही होता है वह नहीं", यह बचकानी बात है। **सब कुछ** हो सकता है। कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो औरों की अपेक्षा अधिक होते हैं, उससे एक सामान्य सिद्धान्त बनाया जा सकता है; परन्तु कोई यह कभी नहीं कह सकता : "यह सम्भव नहीं है, और यह बात सर्वदा इसी प्रकार की या सर्वदा उसी प्रकार की होती है।" यथार्थ में ये चीज़ें इस प्रकार नहीं होतीं।

परन्तु किसी हालत में—किसी भी हालत में—यहाँ तक कि बहुत उत्तम मामलों में भी, यहाँ तक कि जब अन्तरात्मा सचेतन रूप से आयी है, यहाँ तक कि जब उसने भौतिक शरीर के निर्माण में ज्ञानपूर्वक भाग लिया

है, फिर भी जब तक शरीर का निर्माण प्रचलित पशूचित ढंग से होता है, अन्तरात्मा को संघर्ष करना तथा उन सब चीजों को सुधारना होगा जो इस मानवीय पशुता से आती हैं।

अनिवार्यतः, माता-पिता एक विशेष प्रकार से बने होते हैं, वे या तो स्वस्थ होते हैं या अस्वस्थ; और यदि सब बातों को उनके उत्तम रूप में लिया जाये फिर भी उनके जन्म के, जिस वातावरण में वे रह चुके हैं उसके, उनके निजी जीवन के परिणामस्वरूप उनकी अवचेतना में और अचेतना में भी परम्पराओं, आदतों, रचनाओं का एक स्तूप होता है; और यदि वे असाधारण व्यक्ति हों फिर भी, उनके अन्दर यथार्थ चैत्य जीवन के एकदम विपरीत बहुत सारी चीज़ें होती हैं—यहाँ तक कि उनमें से सर्वश्रेष्ठ लोगों में भी, अत्यन्त सचेतन लोगों में भी ऐसा होता है। और इसके अतिरिक्त, बहुत सारी चीज़ें भविष्य में आने वाली होती हैं। यदि कोई अपने बच्चों को शिक्षित करने का बहुत अधिक कष्ट भी उठाता है फिर भी बच्चे ऐसे सभी प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आते हैं जो उनके ऊपर एक प्रकार का प्रभाव डालते हैं, विशेषकर जब वे बिलकुल छोटे होते हैं तथा ये प्रभाव अवचेतना में एकदम अन्दर चले जाते हैं और जिनके साथ उन्हें बाद में चल कर संघर्ष करना पड़ता है। मैं कहती हूँ : सर्वोत्तम उदाहरणों में भी, वर्तमान समय में शरीर जिस ढंग से निर्मित होता है उसके कारण तुम्हें ऐसी अनगिनत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जो कम या अधिक अवचेतना से आती हैं, पर ऊपरी तल पर उठ जाती हैं और जिनके विरुद्ध तुम्हें संघर्ष करना पड़ता है और उसके बाद ही तुम पूरी तरह मुक्त हो सकते हो और सामान्य रूप में विकसित हो सकते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २४२-४५

प्रश्न : पहले, बीच-बीच में, सुख, शान्ति और प्रेम के काल आते थे। क्या बात है कि कुछ महीनों से ऐसे काल एकदम नहीं आये?

उत्तर : बच्चों में बहुधा चैत्य बहुत ऊपरी सतह पर रहता है और वह उन्हें शान्त और ख़ुश बनाता है। जैसे-जैसे तुम बढ़ते हो, प्राण और मन विकसित हो जाते और अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं—और तब परेशानियाँ और कष्ट शुरू हो जाते हैं।

—श्रीमाँ

नारियों से—उनके शरीर के बारे में

(कुछ प्रश्नों के उत्तर)

१. हे भगवान्, क्या तुम यह नहीं भूल सकते कि तुम लड़का हो या लड़की और मनुष्य बनने की कोशिश नहीं कर सकते?

२. प्रत्येक विचार (या विचारों का दर्शन) अपने काल और देश में सच्चा होता है। लेकिन अगर वह ऐकान्तिक होना चाहे या अपना समय पूरा हो जाने पर भी बचे रहने की कोशिश करे तो वह सच्चा नहीं रहता।

—श्रीमाँ

शारीरिक शिक्षण के उद्देश्य से अपने दल के बच्चों के साथ व्यवहार करते समय बालिकाओं के विषय में कुछ समस्याएँ हमारे सामने आ खड़ी होती हैं। उनमें से अधिकांश ऐसे सुझाव हैं जो उन्हें अपने मित्रों से, बड़ी लड़कियों से, माता-पिता या अभिभावकों और डॉक्टरों से मिलते हैं। कृपा कर नीचे लिखे प्रश्नों पर कुछ प्रकाश डालिये ताकि अपने उत्तरदायित्वों को अधिक योग्यता के साथ पूरा करने के लिए हमें अधिक ज्ञान प्राप्त हो।

१. अपने मासिक काल के विषय में किसी लड़की का मनोभाव क्या होना चाहिये?

२. क्या अपने मासिक काल में किसी लड़की को अपने शारीरिक शिक्षण के नियमित कार्यक्रम में भाग लेना चाहिये?

३. कुछ लड़कियाँ अपने मासिक काल में क्यों पूर्णतः दुर्बल हो जाती हैं तथा अपनी पीठ के निचले भाग में और पेट में दर्द का अनुभव करती हैं जब कि औरों को कोई तकलीफ़ नहीं होती या बहुत मामूली-सी तकलीफ़ होती है?

४. कोई लड़की अपने मासिक काल के दुःख-दर्द को कैसे जीत सकती है?

५. क्या आपकी राय में लड़कों और लड़कियों के लिए भिन्न-भिन्न

प्रकार के व्यायाम होने चाहियें? क्या तथाकथित पुरुषोचित खेलकूदों का अभ्यास करने से किसी लड़की के जननेन्द्रिय आदि अंगों को हानि पहुँच सकती है?

६. क्या कठिन व्यायामों का अभ्यास करने से किसी लड़की की आकृति बदल जायेगी और वह एक पुरुष की आकृति की तरह गठित हो जायेगी और इस कारण वह लड़की कुरूप दिखायी देने लगेगी?

७. यदि कोई लड़की विवाह करना चाहे और बाद में उसके सन्तान हो तो क्या कठिन व्यायामों के कारण शिशु-जन्म के समय उसे अधिक कठिनाइयाँ होंगी?

८. नारीत्व की दृष्टि से लड़कियों के लिए शारीरिक शिक्षण का क्या आदर्श होना चाहिये?

९. हमारी नवीन जीवन-पद्धति के अन्दर पुरुष और स्त्री की क्या मुख्य भूमिका रहेगी? उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध होगा?

१०. नारी के शारीरिक सौन्दर्य का क्या आदर्श होना चाहिये?

तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देने से पहले मैं तुमसे कुछ बातें कहना चाहती हूँ जो निस्सन्देह तुम जानते हो, पर तुम यदि यह जानना चाहते हो कि श्रेष्ठ जीवन कैसे यापन किया जाये तो तुम्हें उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिये।

यह सच है कि हम, अपने आन्तरिक स्वरूप में, एक आत्मा हैं, सजीव अन्तरात्मा हैं जो अपने अन्दर भगवान् को वहन करती है, और भगवान् बनने की, उन्हें पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने की अभीप्सा करती है; वैसे ही यह भी सच है कि, कम-से-कम इस क्षण, अपनी अत्यन्त स्थूल बाह्य सत्ता में, अपने शरीर में, हम अब भी एक पशु, स्तनपायी जीव हैं, निस्सन्देह एक उच्चतर जाति के हैं, पर पशुओं जैसे ही निर्मित हैं और पशु-प्रकृति के नियमों के ही अधीन हैं।

तुमलोगों को निश्चय ही यह पढ़ाया गया होगा कि स्तनपायी जीवों की एक विशेषता यह है कि उनकी मादा गर्भ-धारण करती है और अपने गर्भस्थ बच्चे को तब तक वहन करती और निर्मित करती है जब तक वह क्षण नहीं आ जाता जब शिशु पूर्ण आकार प्राप्त करके अपनी माता के शरीर से बाहर निकल सके और स्वतन्त्र रूप से जीवन यापन करने लगे।

इस कार्य को दृष्टि में रख कर प्रकृति माता ने स्त्रियों को खून की कुछ अतिरिक्त मात्रा प्रदान की है जो शिशु के निर्माण के लिए व्यवहृत होती है। परन्तु इस अतिरिक्त रक्त का उपयोग करना सर्वदा आवश्यक नहीं होता, इसलिए जब कोई गर्भाधान नहीं होता तब रक्त की अधिकता और जमाव से बचने के लिए अतिरिक्त रक्त को निकाल फेंकने की आवश्यकता होती है। बस, यही है मासिक धर्म का कारण। यह एक सीधी-सी स्वाभाविक क्रिया है, जिस पद्धति से नारी का निर्माण हुआ है उसी का एक परिणाम है और शरीर की अन्य क्रियाओं की अपेक्षा इसे अधिक महत्त्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह कोई रोग नहीं है और किसी दुर्बलता या सच्ची असुविधा का कारण नहीं बन सकती। अतएव एक स्वाभाविक स्थिति में रहने वाली स्त्री को, ऐसी स्त्री को जो बहुत ही अधिक नर्म तबीअत की न हो, केवल स्वच्छता-सम्बन्धी आवश्यक सावधानी बरतनी चाहिये, इसके विषय में कभी ज़रा भी सोचना नहीं चाहिये और अपने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन न कर, नित्य की तरह अपना दैनिक जीवन बिताना चाहिये। यही अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने का सबसे उत्तम उपाय है।

इसके अतिरिक्त, यह स्वीकार करने पर भी कि जहाँ तक हमारे शरीर का प्रश्न है, हम अब भी भयंकर रूप से पशुत्व से सम्बन्ध रखते हैं, हमें यह सिद्धान्त नहीं बना लेना चाहिये कि यह पाशव भाग, जिस तरह हमारे लिए अत्यन्त ठोस और अत्यन्त वास्तविक है उसी तरह वह एकमात्र वस्तु है जिसकी अधीनता स्वीकार करने के लिए हम बाध्य हैं और जिसे हमें अपने ऊपर शासन करने देना चाहिये। दुर्भाग्यवश जीवन में अधिकतर यही होता है और निश्चय ही मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता का प्रभु होने की अपेक्षा कहीं अधिक ग़ुलाम है। परन्तु इसके विपरीत ही होना चाहिये, क्योंकि व्यक्तिगत जीवन का सत्य एकदम दूसरी चीज़ है।

हमारे अन्दर एक विवेकपूर्ण संकल्प-शक्ति है जिसे कम या अधिक बोध प्राप्त है और जो हमारे चैत्य पुरुष का प्रथम यन्त्र है। इसी विवेकपूर्ण संकल्प-शक्ति का हमें उपयोग करके यह सीखना चाहिये कि एक पशु-मानव की तरह नहीं, वरन् सच्चे मनुष्य की तरह, 'देवत्व' के उम्मीदवार की तरह कैसे जीना चाहिये।

और इस सिद्धि की ओर जाने का पहला पग है, इस शरीर का एक

अक्षम दास न रह, इसका प्रभु बन जाना।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने में अत्यन्त उपयोगी सहायता देने वाली चीज़ है, शारीरिक साधना, अर्थात् व्यायाम।

लगभग एक शताब्दी से उस ज्ञान का पुनरुद्धार करने का प्रयास हो रहा है जिसे प्राचीन युगों में बहुत महत्त्व दिया जाता था और जिसे लोग अंशतः भूल गये हैं। अब यह पुनः जाग्रत् हो रहा है और आधुनिक विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ यह भी एक नवीन विस्तार और महत्त्व को प्राप्त करता जा रहा है। यह ज्ञान स्थूल शरीर तथा उस असाधारण प्रभुत्व की चर्चा करता है जो प्रबुद्ध और विधिबद्ध शारीरिक शिक्षण की सहायता से शरीर के ऊपर प्राप्त किया जा सकता है।

यह पुनरुद्धार एक नयी शक्ति और नयी ज्योति की क्रिया का फल है जो निकट भविष्य में सिद्ध होने वाले महान् रूपान्तर की सिद्धि के योग्य शरीर को तैयार करने के लिए पृथ्वी पर फैल गयी है।

हमें इस शारीरिक शिक्षण को प्रधान महत्त्व देने में हिचकिचाना नहीं चाहिये जिसका उद्देश्य ही है हमारे शरीर को इस योग्य बना देना कि वह पृथ्वी पर अभिव्यक्त होने का प्रयास करने वाली नवीन शक्ति को ग्रहण और प्रकट करने लगे।

इतना कह कर, अब मैं उन प्रश्नों का उत्तर देती हूँ जिन्हें तुमने मेरे सामने रखा है।

१. अपने मासिक काल के विषय में किसी लड़की का मनोभाव क्या होना चाहिये?

वही मनोभाव होना चाहिये जो तुम किसी एकदम स्वाभाविक और अपरिहार्य वस्तु के प्रति रखती हो। इसे यथासम्भव कम-से-कम महत्त्व दो और इसके कारण कोई परिवर्तन किये बिना, अपने सामान्य जीवन को नियमित रूप से चलाती रहो।

२. क्या अपने मासिक काल में किसी लड़की को अपने शारीरिक शिक्षण के नियमित कार्यक्रम में भाग लेना चाहिये?

यदि शारीरिक व्यायाम करने का उसे अभ्यास हो तो उसे निश्चय ही इस कारण उसे बन्द नहीं करना चाहिये। यदि कोई अपना नियमित जीवन बिताने का अभ्यास सर्वदा बनाये रखे तो बहुत शीघ्र उसे ऐसी आदत पड़ जायेगी कि उसे पता भी नहीं चलेगा कि उसे मासिक हो रहा है।

३. कुछ लड़कियाँ अपने मासिक काल में क्यों पूर्णतः दुर्बल हो जाती हैं तथा अपनी पीठ के निचले भाग में और पेट में दर्द का अनुभव करती हैं जब कि औरों को कोई तकलीफ़ नहीं होती या बहुत मामूली-सी तकलीफ़ होती है?

यह प्रश्न व्यक्ति के स्वभाव तथा अधिकांशतः शिक्षा का है। यदि किसी लड़की को अपने बचपन से ही यह अभ्यास हो गया हो कि वह बिलकुल मामूली तकलीफ़ की ओर भी बहुत अधिक ध्यान देती हो और अत्यन्त तुच्छ असुविधा के लिए भी बहुत अधिक हाय-तौबा मचाती हो तो वह सहन करने की सारी क्षमता खो बैठेगी और कोई भी चीज़ उसके दुर्बल होने का कारण बन जायेगी। विशेषकर यदि माता-पिता अपने बच्चों की प्रतिक्रियाओं से बहुत शीघ्र चिन्तित हो उठें तब तो उसका असर और भी बुरा होगा। अधिक बुद्धिमानी की बात यही है कि बच्चों को थोड़ा बलशाली और सहनशील होने की शिक्षा दी जाये और उन सब छोटी-मोटी तकलीफ़ों और दुर्घटनाओं के प्रति कम-से-कम दुश्चिन्ता करना सिखाया जाये जिनसे जीवन में सर्वदा बचा नहीं जा सकता। शान्त सहिष्णुता का भाव ही सबसे उत्तम मनोभाव है जिसे मनुष्य स्वयं अपने लिए धारण कर सकता है और अपने बच्चों को भी सिखा सकता है।

यह बिलकुल जानी हुई बात है कि यदि तुम किसी दर्द के होने की आशा करो तो वह अवश्य आयेगा और, एक बार यदि वह आ जाये, यदि तुम उस पर अधिक ध्यान दो तो वह अधिकाधिक बढ़ता जायेगा जब तक कि वह, जैसा कि साधारणतया उसे नाम दिया जाता है, "असह्य" ही न हो उठे, यद्यपि थोड़ी-सी संकल्प-शक्ति और साहस का प्रयोग करने पर ऐसा कोई दुःख-दर्द नहीं जिसे सहा न जा सके।

४. कोई लड़की अपने मासिक काल के दुःख-दर्द को कैसे जीत सकती है?

कुछ व्यायाम ऐसे हैं जो पेट को सशक्त बनाते तथा रक्त-प्रवाह को बढ़ाते हैं। इन व्यायामों को नियमित रूप से करते रहना चाहिये और दर्द के दूर हो जाने पर भी इन्हें जारी रखना चाहिये। बड़ी उम्र की लड़कियों को इस प्रकार का दर्द प्रायः पूर्ण रूप से काम-वासना के कारण होता है। यदि हम वासनाओं से मुक्त हो जायें तो हम दर्द से भी मुक्त हो जाते हैं। वासनाओं से मुक्त होने के दो उपाय हैं : पहला है प्रचलित उपाय, वासना की तृप्ति (अथवा यों कहें कि इसे यह नाम दिया जाता है, क्योंकि वासना के राज्य में "तृप्ति" नाम की कोई चीज़ है ही नहीं)। इसका अर्थ है, साधारण मानव-पशु का जीवन बिताना, विवाह, सन्तान, और बाक़ी सभी चीज़ें।

निस्सन्देह, एक दूसरा पथ भी है, उससे कहीं अधिक अच्छा पथ है —वह है संयम, प्रभुत्व, रूपान्तर का पथ; यह कहीं अधिक महान् और प्रभावशाली है।

५. क्या आपकी राय में लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग व्यायाम होने चाहियें? क्या तथाकथित पुरुषोचित खेलकूद का अभ्यास करने से किसी लड़की के जननेन्द्रिय आदि अंगों को हानि पहुँच सकती है?

सभी प्रसंगों में, जैसे लड़कों के लिए वैसे ही लड़कियों के लिए, व्यायामों को प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति और क्षमता के अनुसार क्रमबद्ध कर देना चाहिये। यदि कोई दुर्बल छात्र एकाएक कठिन और भारी व्यायाम करने की कोशिश करे तो वह अपनी मूर्खता के कारण दुःख भोग सकता है। परन्तु, यदि बुद्धिमानी के साथ और धीरे-धीरे शिक्षा दी जाये तो लड़कियाँ और लड़के दोनों ही, सब प्रकार के खेलों में भाग ले सकते हैं और इस प्रकार अपनी शक्ति और स्वास्थ्य को बढ़ा सकते हैं।

बलवान् और स्वस्थ बनने से शरीर को कभी कोई हानि नहीं पहुँच सकती, भले ही वह शरीर स्त्री का ही क्यों न हो!

६. क्या कठिन व्यायामों का अभ्यास करने से किसी लड़की की आकृति बदल जायेगी और वह एक पुरुष की आकृति की तरह गठित हो जायेगी और इस कारण वह लड़की कुरूप दिखायी देने लगेगी?

दुर्बलता और क्षीणता भले ही किसी विकृत मन की दृष्टि में आकर्षक प्रतीत हों, पर यह प्रकृति का सत्य नहीं है और न आत्मा का ही है।

यदि तुमने कभी व्यायाम करने वाली स्त्रियों के चित्रों को देखा हो तो तुम्हें पता चलेगा कि उनके शरीर कितने पूर्णतया सुन्दर होते हैं; और कोई भी व्यक्ति इससे इन्कार नहीं कर सकता कि उनका शरीर सुगठित होता है।

७. यदि कोई लड़की बाद में विवाह करना चाहे और उसके सन्तान हो तो क्या कठिन व्यायामों के कारण शिशु-जन्म के समय उसे अधिक कठिनाइयाँ होंगी?

मैंने ऐसा कोई उदाहरण कभी नहीं देखा। बल्कि इसके विपरीत, जो स्त्रियाँ कठिन व्यायाम करने की शिक्षा प्राप्त करती हैं और सुदृढ़-मांसल शरीरवाली होती हैं वे गर्भ धारण करने और शिशु पैदा करने की कठिन परीक्षा में कहीं अधिक आसानी से और कम दर्द के साथ उत्तीर्ण होती हैं।

मैंने अफ़्रीका की उन स्त्रियों में से एक की विश्वसनीय कहानी सुनी है जो भारी बोझ लेकर मीलों यात्रा करने की आदी होती हैं। वह स्त्री गर्भवती थी और एक दिन यात्रा करते समय ही उसके बच्चा जनने का समय हो गया। वह रास्ते में एक किनारे, एक पेड़ के नीचे बैठ गयी, उसने शिशु को जन्म दिया, आधा घण्टा उसने विश्राम किया, फिर वह उठ खड़ी हुई और अपने पुराने बोझ के साथ-साथ नवजात बच्चे को भी लेकर चुपचाप अपने रास्ते चल पड़ी मानों कुछ हुआ ही न हो। यह इस बात का अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण है कि स्वास्थ्य और शक्ति पर पूर्ण अधिकार रखने वाली एक नारी क्या कर सकती है।

डॉक्टर कहेंगे कि मनुष्यजाति ने आज जितनी भी प्रगति की है उस सबके होते हुए भी किसी सभ्य समाज में इस तरह की बात कभी घटित नहीं हो सकती; परन्तु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि, शरीर के

दृष्टिकोण से देखा जाये तो, आधुनिक सभ्यताओं ने जो संवेदनशीलता, दुःख-कष्ट और जटिलता उत्पन्न की है उसके मुक़ाबले यह कहीं अधिक सुखदायी स्थिति है।

इसके अलावा, साधारणतया डॉक्टर वगैरह अस्वाभाविक प्रसंगों में ही अधिक दिलचस्पी लेते हैं और वे अधिकांशतः उसी दृष्टिकोण से विचार करते हैं। परन्तु हमारे लिए बात इससे भिन्न है; हम स्वाभाविक से अतिस्वाभाविक की ओर जा सकते हैं, न कि अस्वाभाविक से—जो कि सर्वदा ही पथभ्रष्टता और निकृष्टता का चिह्न होता है।

८. नारीत्व की दृष्टि से लड़कियों के लिए शारीरिक शिक्षण का क्या आदर्श होना चाहिये?

मेरी समझ में नहीं आता कि लड़कों से भिन्न लड़कियों के लिए शारीरिक शिक्षण का कोई विशेष आदर्श क्यों होना चाहिये।

शारीरिक शिक्षण का उद्देश्य है, मानव शरीर की सभी सम्भावनाओं को विकसित करना—जैसे, सुसामञ्जस्य, शक्ति, नमनीयता, चतुरता, फुर्तीलापन, सहनशीलता आदि की सम्भावनाओं को प्रस्फुटित करना, अपने अंगों और इन्द्रियों की क्रियाओं पर अपना अधिकार बढ़ाना, एक सचेतन संकल्प-शक्ति के व्यवहार के लिए शरीर को सर्वांगपूर्ण यन्त्र बनाना। यह कार्यक्रम सभी मानव प्राणियों के लिए एक समान उत्तम है, और ऐसा कोई कारण नहीं कि लड़कियों के लिए कोई दूसरा कार्यक्रम अपनाने के बारे में सोचा जाये।

९. हमारी नवीन जीवन-पद्धति के अन्दर पुरुष और स्त्री की क्या भूमिकाएँ होनी चाहियें? उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध होगा?

भला दोनों के बीच तनिक भी विभेद क्यों किया जाये? वे दोनों ही एक जैसे मानव प्राणी हैं जो वर्ग, जाति, धर्म तथा राष्ट्रीयता से ऊपर उठ कर 'भागवत कार्य' के लिए उपयुक्त यन्त्र बनने की चेष्टा करते हैं, जो एक ही 'अनन्त दिव्य माता' की सन्तान हैं तथा एक ही 'शाश्वत भगवान्' को प्राप्त करने की अभीप्सा रखते हैं।

१०. नारी के शारीरिक सौन्दर्य का क्या आदर्श होना चाहिये?

अंगों के परिमाण में पूर्ण सामञ्जस्य, कोमलता और बल-सामर्थ्य, कमनीयता और क्षमता, नमनीयता और दृढ़ता, तथा सबसे बढ़ कर, एक अपरिवर्तनशील उत्तम स्वास्थ्य जो एक पवित्रात्मा बनने का, जीवन में मुदित विश्वास तथा 'भागवत कृपा' में अटल श्रद्धा-विश्वास रखने का परिणाम होता है।

अन्त में एक बात और जोड़ दूँ :

मैंने ये सब बातें तुमसे इसलिए कही हैं क्योंकि तुम्हें इन्हें सुनने की आवश्यकता थी, पर तुम इन्हें अकाट्य सिद्धान्त का रूप मत दे देना, क्योंकि ऐसा करने पर ये अपना सत्य ही खो बैठेंगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३१४-२२

मधुर माँ,

कुछ दिन पहले मैंने ग्रुप ए-२ के बच्चों में एक बड़ी अजीब चीज़ देखी। लड़के लड़कियों के साथ काम नहीं करना चाहते। वे लड़कियों के साथ मिल कर खड़े भी नहीं होना चाहते। वे एक साथ काम नहीं कर सकते। इन छोटे बच्चों में, जो मुश्किल से ग्यारह वर्ष के होंगे, यह भेद-भाव कैसे आ गया! अजीब बात है।

यह पूर्वजों से चला आ रहा है और अवचेतना से आता है।

यह सहज प्रवृत्ति इन दो चीज़ों पर आधारित है : पुरुष के गर्व—श्रेष्ठता के मूर्खताभरे भाव—पर और उससे भी बड़े मूर्खताभरे भय पर जो इस विचार से आता है कि नारी भयावह है क्योंकि वह तुम्हें पाप की ओर लुभा ले जाती है। बच्चों में यह सब तब तक अवचेतन होता है, किन्तु यह उनकी क्रियाओं पर असर डालता है।

३ जुलाई १९६३

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

सितम्बर

१. प्रभु, तेरी महिमा उद्घोषित हो, मानव जीवन उससे पवित्र बने, हमारे हृदय रूपान्तरित हों, और सारी धरती पर तेरी शान्ति का राज्य हो।

२. हे दिव्य स्वामी! हमारा जीवन, हमारा चिन्तन, हमारा प्रेम, हमारा सारा अस्तित्व तुझे समर्पित है। अपनी वस्तु को तू पुनः अपने अधिकार में कर, क्योंकि वास्तविक सत्ता में हम 'तू' ही तो हैं।

३. हमें उस तुष्टिकारी आत्म-श्लाघा से दूर रहना चाहिये जो हमें सब प्रकार के गड्ढों में ले जाती है। हमें यह जानना चाहिये कि चाहे हमने कितना भी प्रयत्न किया हो, संघर्ष किया हो, कितनी भी सफलताएँ पायी हों, या हम जो मार्ग तय कर चुके हैं वह उसकी तुलना में कुछ नहीं है जिसे अभी हमें तय करना है, और शाश्वतता के सम्मुख धूल के अत्यन्त तुच्छ कण हों या नक्षत्र, सब बराबर हैं।

४. वर्तमान अभिव्यक्ति में सब कुछ अनिवार्य रूप से मिला-जुला है, सबसे अधिक बुद्धिमत्ता की बात यह होगी कि हम यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा करने का प्रयत्न करें। उच्च प्रकाश की प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर प्रयत्नशील हों और यह स्वीकार करें कि चरम पूर्णता इसी क्षण चरितार्थ नहीं हो सकती।

फिर भी क्या हमें हमेशा उस पूर्णता के लिए उत्साहपूर्वक अभीप्सा नहीं करनी चाहिये!...

५. इस अन्धकार को विदीर्ण कर, ज्योति के फ़व्वारे को उन्मुक्त कर। इस तूफ़ान को निस्तब्ध कर, शान्ति को स्थापित कर।
यह हिंस्र-भाव शान्त कर, प्रेम का राज्य स्थापित कर।

६. चाहिये बस धैर्य, बल, साहस, शान्ति और अदम्य कर्म-शक्ति...।

७. हे भगवान्! मैं सर्वदा तेरे सम्मुख एकदम सफ़ेद काग़ज़ का एक पृष्ठ बनी रहना चाहती हूँ, जिस पर बिना किसी कठिनाई और बिना किसी मिलावट के तेरी इच्छा मेरे अन्दर अंकित हो जाये।

८. हे प्रभु, कृपा कर कि प्रत्येक क्षण हमें जो अद्भुत वस्तुएँ तेरी देन

के रूप में मिलती हैं, हम उनमें से किसी का, कभी अपव्यय न करें।

९. हे नाथ! उस सत्य प्रेम को उत्पन्न कर जो सभी कष्टों का शमन करता है; उस अचल-अटल शान्ति को स्थापित कर जिसमें सच्ची शक्ति निवास करती है; प्रदान कर हमें वह चरम ज्ञान जो समस्त अन्धकार का विनाश कर देता है...।

१०. हमेशा अपने अन्दर की अभीप्सा पर बल दो, उसे हृदय में गहराई और स्थिरता पाने दो; मन तथा प्राण की बाहरी बाधाएँ हृदय के प्रेम तथा अभीप्सा के विकास के साथ-साथ अपने-आप ही पीछे हट जायेंगी।

११. सामान्यतः शुष्कता अपने बारे में बहुत अधिक चिन्ता करना है (चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक) तथा परिणामस्वरूप चेतना की संकीर्णता का चिह्न है जो भागवत शक्तियों के साथ काफ़ी घनिष्ठता में नहीं रहती।

उपचार है, भगवान् के प्रति अधिक पूर्ण आत्मोत्सर्ग।

१२. तुम जो भी करो, हमेशा उससे अच्छा करने की सम्भावना रहती है। और प्रगति का अर्थ यही है—ज़्यादा अच्छे की सम्भावना।

१३. रूपान्तर के लिए भगवान् को निरन्तर याद रखना अनिवार्य है।

१४. वह समय आ गया है जब हमें एक चुनाव—मौलिक और सुनिश्चित चुनाव करना होगा। हे प्रभु! हमें ऐसी शक्ति दे कि हम मिथ्यात्व का त्याग करके तेरे सत्य में ऊपर उठ सकें, विशुद्ध और तेरी विजय के उपयुक्त पात्र बन कर उठ सकें।

१५. कोई मानव संकल्प भागवत संकल्प के सामने नहीं टिक सकता। आओ, हम अपने-आपको विवेक के साथ, पूरी तरह से भगवान् की ओर रखें। और, अन्त में विजय निश्चित है।

१६. निरन्तर आन्तरिक विकास होते रहने पर ही मनुष्य जीवन में सतत नवीनता और अक्षय रस पा सकता है। और कोई सन्तोषजनक उपाय नहीं है।

१७. निम्न प्राणमय प्रकृति के घेराव से बचने का एक ही तरीक़ा है, सभी अहंकारपूर्ण इच्छाओं, माँगों और दावों का पूरी तरह से त्याग कर दिया जाये और असन्तुष्ट प्राणिक प्रेरणाओं और लालसाओं की जगह चैत्य अभीप्सा की प्रतिष्ठा की जाये।

१८. जो लोग भगवत्कृपा और सहायता के लिए अभीप्सा करते हैं उनके लिए कृपा और सहायता हमेशा प्रस्तुत रहती हैं और अगर उन्हें श्रद्धा और विश्वास के साथ लिया जाये तो उनकी शक्ति असीम है।

१९. मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरे अन्दर से हठधर्मिता और स्वाग्रह को धो दिया जाये और मैं माँ के प्रति विनीत और आज्ञापरायण बन जाऊँ। मैं उनके काम के लिए समर्पित उपयुक्त यन्त्र बन सकूँ। मैं जो कुछ भी करूँ उसमें उनकी कृपा ही मुझे राह दिखाये।

२०. सच्चे बनो, हमेशा सच्चे बनो, अधिकाधिक सच्चे बनो।
सच्चाई हर एक से यह माँग करती है कि वह अपने विचारों, अपने भावों, अपनी अनुभूतियों और अपने कामों में अपनी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के सिवा और कुछ न प्रकट करे।

२१. यह कभी मत भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं और तुम्हारी सहायता एवं पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। वे एक ऐसे साथी हैं जो कभी साथ नहीं छोड़ते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम आश्वासन और बल प्रदान करता है। श्रद्धा बनाये रखो और वे तुम्हारे लिए सब कुछ कर देंगे।

२२. हमें आवश्यकता है शान्त हृदय, सुदृढ़ संकल्प और पूर्ण आत्मत्याग की तथा अपनी दृष्टि को निरन्तर परे की ओर निबद्ध रखने की जिससे कि हम ऐसे समय भी, जो वास्तव में विश्वव्यापी विघटन का काल है, निरुत्साहित न हों।

२३. मनुष्य को कठिनाई की अपेक्षा कहीं अधिक आग्रही होना होगा—और कोई उपाय नहीं है। भगवान् को प्राप्त करने के अन्तरात्मा के अटूट संकल्प के आगे कोई चीज़ टिक नहीं सकती।

२४. तुमने जो काम हाथ में लिया है उसमें सच्चे रहो तो भागवत कृपा हमेशा तुम्हारी सहायता के लिए मौजूद रहेगी।

२५. उच्चतम गुणों में से एक है, औरों के मामलों में टाँग न अड़ाना।

२६. हाँ, जो अपने अहंकार में रहते हैं वे सतत रूप से एक कुरूप नाटक में जीते हैं। अगर लोग ज़रा कम स्वार्थी होते तो चीज़ें ज़रा कम ख़राब होतीं।
तब तक हमें इन सब विरोधी परिस्थितियों का सामना धैर्य, सहिष्णुता

और समचित्तता के साथ करना चाहिये।

२७. हम भागवत मुस्कान का ध्यान तभी कर सकते हैं जब हम अहंकार पर विजय पा लें।

२८. मेरी सुरक्षा हमेशा तुम्हारे साथ है और कोई अनिष्ट नहीं घट सकता। लेकिन तुम्हें डर को झाड़ कर दूर फेंक देने का निश्चय करना होगा और तब मेरी शक्ति पूरी तरह से काम कर सकेगी।

२९. अपनी कठिनाइयों को भूल जाओ। केवल भागवत कार्य करने के लिए उनके अधिकाधिक पूर्ण यन्त्र बनने के बारे में सोचो और भगवान् तुम्हारी सारी कठिनाइयाँ जीत कर तुम्हें रूपान्तरित कर देंगे।
प्रेम और आशीर्वाद सहित।

३०. यद्यपि अन्धकार बहुत अधिक है—और यह जगत् तथा साथ ही मनुष्य की भौतिक प्रकृति भी उससे भरी हुई है—फिर भी सच्ची ज्योति की एक किरण ही अन्त में दसगुने अन्धकार को भी पराजित कर सकती है। इस बात पर विश्वास करो और इसे हमेशा दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। (श्रीअरविन्द)

मूल्यवान् घड़ियाँ

दीपक का तेल चुक गया था। केवल रुई की बाती जल कर मन्द-मन्द प्रकाश बिखेर रही थी। उसके अन्तिम समय को निकट आया देख कर एक गृहस्थ ने पूछ ही लिया—'तुम जीवन भर आलोक बिखेर कर दूसरों का पथ-प्रदर्शन करते रहते हो, संसार के साथ इतनी भलाई करते रहते हो, फिर भी तुम्हारा इस प्रकार दुःखद अन्त देख कर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है।'

बुझते दीपक ने पूर्ण शक्ति के साथ अन्तिम बार अपनी आभा बिखेरते हुए कहा—'भाई! इस भौतिक जगत् में जिसका जन्म होता है, उसका अन्त भी होता है। हम प्रयास करने पर भी उससे बच नहीं सकते। हाँ, इतना अवश्य कर सकते हैं कि अपने जीवन की मूल्यवान् घड़ियों को व्यर्थ ही नष्ट न होने दें।'

—अज्ञात

स्वतन्त्र भारत में नारी का स्थान

(सम्पादिका द्वारा २३ वर्ष पहले, आकाशवाणी के लिए लिखे लेख ने इस अंक में अनायास अपनी जगह बना ली...)

स्वतन्त्र भारत में नारी का क्या स्थान है या होना चाहिये इस विषय पर सोचने-विचारने से पहले हमें समाज में नारी के स्थान की चर्चा करनी चाहिये। नारी, अर्थात् नर की सहधर्मिणी, उसके साथ-साथ चलने वाली, क्या वह पुरुष समाज के साथ-साथ चल पायी? नहीं, बिलकुल नहीं, नारी ने बहुत दुर्दिन देखे, उसके नाम के आगे अबला, अशक्त आदि विशेषण जुड़े और उसकी परिभाषा बन गयी—

नारी तुम केवल अबला हो
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

और नारी समझ बैठी, शायद यही सच है, आख़िर पुरुष-समाज अधिक बलशाली जो ठहरा, और वह मानने लगी कि उसका स्थान घर की चहारदीवारी में है और पुरुष का बाहर, वह बाहर नहीं जा सकती और कभी जाये भी तो पुरुष की छाया-छाया में उसे चलना होगा, उसकी छाया को पार कर वह आगे नहीं बढ़ सकेगी और इसका परिणाम क्या हुआ, नारी, जो सचमुच शक्ति का प्रतीक है, वह शक्तिहीन बन बैठी, लोग कहने लगे—भारत हमेशा पुरुषप्रधान समाज रहा है, यहाँ नारियाँ केवल घर-बार, कपड़े-लत्ते, और ज़ेवर-गहने में ही सीमित रहती हैं, पुरुष के साथ किसी वाद-विवाद में भाग नहीं ले सकतीं। और जब नारी की यह दुर्दशा हुई तब भारत—(भा-रतः यानी, प्रकाश में लीन) भी प्रकाश में रत नहीं रहा बल्कि अन्धकार में डुबकियाँ खाने लगा। जिस समाज के आधे अंग को अपंग-सा बना दिया गया हो उस समाज की धुरी भला सन्तुलन को कब तक बनाये रख सकेगी। अगर हम अतीत की चिक हटा कर देखें तो पायेंगे कि इसी देश में सुभद्रा, झांसी की रानी, जीजाबाई, अहिल्याबाई, मीराबाई, मैत्रेयी, अनसूया, गार्गी और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में न जाने कितनी वीरांगनाएँ हो चुकी हैं जिन्होंने भारत में मूर्धन्य स्थान पाया, उस समय नारी को सचमुच पुरुष की समानधर्मा मान कर उसको उसी दृष्टि से देखा जाता था, यह तो बाद में नारी को श्री, शोभा इत्यादि शब्दों की

दुहाई देकर उसे घूँघट में जकड़ कर एक गठरी-सी बना कर रख दिया गया। नारी सचमुच सहनशीला है तभी तो गठरी बनी वर्ष पर वर्ष गुज़ारती गयी, पुरानी गठरियाँ चली गयीं तो नयी आ गयीं; और यह तो मानी हुई बात है कि जहाँ कहीं अँधेर हो जाता है वहाँ देर-सवेर प्रकाश का सूरज नहीं तो जुगनू ज़रूर चमक उठते हैं, पहली चमक के लिए वे खद्योत ही काफ़ी हैं। इधर विज्ञान ने प्रगति की और आगे पैर बढ़ाये, उधर समाज का आधा अंग कुनमुनाया, पुरुष-समाज की ज़ंजीरों से जकड़ी नारी ने ज़ोर से उनको खड़खड़ाया, वह मूक, बेजान प्राणी हुंकार उठा। 'वीमेन्स लिब' इत्यादि क्रान्तियाँ इसी हुंकार का ही तो परिणाम हैं। सब कहते हैं, भारत की नारियों पर अत्याचार ढहे, पश्चिम की महिलाएँ पुरुष-समाज के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर चलीं, लेकिन यह अतिशयोक्ति है, पश्चिम की स्त्रियों ने ही पहले अपने अधिकार, अपनी स्वतन्त्रता, अपनी अलग पहचान की माँग की।

सच कहा जाये तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले भारत में सचमुच नारी की छीछालेदर हुई, समाज के नियम-क़ानून ऐसे बेढंगे थे कि उसमें स्त्री अपना मुँह क्या, घूँघट तक नहीं उठा सकती थी, लेकिन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद धीरे-धीरे अवस्था सुधरने लगी। इसका पहला कारण तो यह है कि विज्ञान चौकड़ी भरने लगा, उसने ऐसे-ऐसे साधनों का आविष्कार कर लिया कि अब सात समुन्दर पार के देश सिमट कर हमारे परिसर में आ गये। और जहाँ सभ्यताओं का, संस्कृतियों का इतना आदान-प्रदान हो वहाँ कुएँ के मेढ़क की तरह रहा नहीं जा सकता। भारत ने प्रगति की, भारत की नारियों ने भी गर्व से सिर उठाया, पहले जहाँ लड़कियों को खेलने-पढ़ने की कच्ची उम्र में शादी की नकेल से बाँध कर निरीह बना कर छोड़ दिया जाता था अब वह ज़माना लद चुका, आज नारी ने अपने अस्तित्व को भली-भाँति पहचान लिया है, भारत की नारी ने घर की ड्योढ़ी पार कर देश की बागडोर तक सँभाल ली, अपने पैरों की पाज़ेब उतार कर अपने देश की आन-बान की रक्षा के लिए आज नारी-दल सेना की शोभा भी बढ़ा रहा है, जो कभी मूक प्राणी से बढ़ कर कुछ न मानी जाती थी आज वही वर्दी पहन कर, ख़ुद हवाई-जहाज़ चलाती हुई हवा से बातें करती फिरती है, अब सचमुच भारत में भी नारी-जागरण हो चुका है, वह स्वतन्त्र भारत

में अपना स्थान बना चुकी है। लोग-बाग कहते हैं कि भारत तो यूरोप का अन्धा अनुकरण करता है, वहाँ की स्वतन्त्रताप्रिय नारी की देखा-देखी भारतीय नारी ने भी उनसे होड़ लगानी चाही, लेकिन सचमुच यह इतनी होड़ नहीं बल्कि उस नारी के अन्दर की मुक्ति की आवाज़ है जो पुरुष के दिये और अपने माने हुए शताब्दियों के संस्कार और अभ्यास को अब सनातन संस्कार या भगवान् का विधान मान लेने को तैयार नहीं है। अब वह अपनी अन्तरात्मा के अनुसार नये क्षेत्र, नये जीवन का निर्माण कर लेना चाहती है क्योंकि अब भारतीय नारी ने अपने-आपको समझना शुरू कर दिया है। वह कहती है, अगर नर विज्ञान है तो मैं ज्ञान हूँ, अगर नर पुरुष है तो मैं हूँ प्रकृति—आजकल गाँव-गाँव, क़स्बे-क़स्बे में सरकार ने नारियों की शिक्षा के जो अभियान चलाये हैं वे नारी को समाज में अपना स्थान पुनः प्राप्त करने में बहुत मदद दे रहे हैं—आखर-आखर पढ़ कर वह एक बार फिर प्रज्ञावान् हो उठेगी, आज इस कम्प्यूटर के युग में भारतीय नारी क्या पुरुष से उन्नीस ठहरती है? महानगरों के किसी भी कार्यालय में चले जाइये, बैंक हो, व्यापारी संस्था हो, स्कूल हो, कॉलेज हो, हर जगह आपको महिलाएँ दिखायी देंगी और आज के भारतीय समाज में नारियों के अन्दर एक और जागरण भी हो रहा है—अपने शरीर को स्वस्थ और मज़बूत बनाने का संकल्प, आज आपको बड़े-बड़े शहरों में सवेरे-सवेरे निकर पहने तो कभी 'ट्रैक-सूट' में कितनी ही स्त्रियाँ, महिलाएँ दौड़ती, कसरत करती दिखायी दे जायेंगी। और विज्ञान का तो कहना ही है कि चूँकि नारी के अन्दर पुरुष से कहीं अधिक सहनशक्ति होती है इसलिए वह खेल-कूद, दौड़-भाग, तैराकी इत्यादि अधिकतर शारीरिक व्यायामों में पुरुष की अपेक्षा अधिक समय तक टिकी रह सकती है—पराधीन भारत में या उसके पहले भी नारी की जो दुर्दशा थी उसकी तुलना में आज उसने प्रगति की दौड़ में बहुत लम्बी छलाँग लगायी है और अब तो भारतीय नारी सौन्दर्य के ख़िताब पाने में भी पीछे नहीं रही। शेक्सपीयर ने कहा है—समय नारी को मौलिक रूप से बदल नहीं सकता, न ही परम्पराएँ उसकी अनन्त विचित्रताओं को हमेशा के लिए चुरा सकती हैं।

यह सच है कि नारी का स्थान समाज में पुरुष से हीन नहीं होना चाहिये और यही कारण है कि विदेशों की भाँति भारत में भी नारी-आन्दोलन

हुए, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि नारी अपने-आपको पुरुष की सहधर्मिणी के साथ-साथ गृहलक्ष्मी, व्यवस्था और शालीनता की मूर्ति भी समझे, नहीं तो वह स्वतन्त्र नहीं स्वच्छन्द हो उठेगी जो भारत की नारी को शोभा नहीं देता—शक्ति की देवी के साथ-साथ वह कुललक्ष्मी भी है। अतः, उसे जीवन में दोहरी भूमिका निभानी है, तभी वह प्रसादजी की इस उक्ति को सार्थक कर पायेगी—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो।"

—वन्दना

'श्रीअरविन्द का पूर्णयोग'

उन्मुक्त गगन में मुक्त पक्षी की तरह विचरना

(गतांक से आगे)

कर्म से बढ़ कर, साधना में प्रवेश करने का, सहज और सरल उपाय दूसरा नहीं है। कर्म के द्वारा साधना करने पर साधक को आत्म-निवेदन करने का एक बहुत विशाल और विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। कर्म के समर्पण की सबसे उत्तम नींव यह है कि हम अनुभव करें कि कर्म हम नहीं करते, माँ करती हैं। इस नींव के पड़ते ही हमारे समस्त कर्म भगवान् के हो जाते हैं; हम सम्पूर्ण दायित्व से मुक्त हो जाते हैं। बात सीधी-सी है, पर इसे कर दिखाना किसी विरले ही महारथी का काम है। प्रायः राजसिक तथा सात्त्विक अहंकार के भाव से कर्म करते हुए भी लोग अपने जी को यह कह कर समझा लेते हैं कि ईश्वर ही उनके द्वारा कर्म कर रहे हैं। अहंभाव के साथ जो कोई भी काम किया जाता है वह अज्ञानी जगत् के लोगों के लिए चाहे जितना भी अच्छा हो, योग के साधक के लिए किसी काम का नहीं।

हमारा मन अपने किये का फल तुरन्त देखना चाहता है, विलम्ब होते ही उसे निराशा घेरने लगती है। अहंकार से निस्तार पाने के लिए हमें फलासक्ति से रहित होकर कर्म करने का आदेश मिला है। दूसरे स्तर पर हम तब पहुँच पाते हैं जब हम ड्राइवर के हाथ एक इंजन की तरह

—यन्त्रवत्—कर्म करना सीखते हैं। तीसरी अवस्था वह है जब सर्वांगीण समर्पण द्वारा साधक दिव्य चेतना में जाग्रत् होता है और प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है कि उसका मन और हृदय ही नहीं, शरीर तक भागवत शक्ति द्वारा परिचालित हो रहा है, वह माँ का ही एक अंग बन गया है। इस प्रकार निष्काम कर्म द्वारा वह दिन-दिन दिव्य चेतना, दिव्य शान्ति आदि से अपने अन्तर को समृद्ध करता हुआ अपने जीवन में वह दिन देख लेता है जब वह अन्तरात्मा में नया जन्म पा लेता है।

रही बात ध्यान की। यदि हम ध्यान का आनन्द लूटना चाहते हैं तो इसके दो ही प्रचलित राजमार्ग हैं—अन्तर्गमन और ऊर्ध्वगमन। या तो हम अन्तःकरण के पाताल में प्रवेश करें या ऊर्ध्व मन के आकाश में उड़ें। दरबार में राजा के आते ही सब चुप हो जाते हैं। हमारी हृद्गुहा का प्रसुप्त शेर (Psychic) जब जगता है और दहाड़ता हुआ बाहर आता है तब हमारे अन्दर के विभिन्न हिंस्र जन्तुओं का कोलाहल अपने-आप शान्त हो जाता है। गभीर अन्तस्तल में प्रवेश करने के कई चिह्न हैं। ऐसा मालूम होता है कि हम शनैः-शनैः भीतर उतर रहे हैं, हमारे हाथ-पैर सुन्न होते जा रहे हैं, हम पत्थर-से स्थिर हो रहे हैं, हममें हिलने-डुलने तक की इच्छा नहीं रह गयी है। आप-ही-आप सारा शरीर शान्त, निस्पन्द होता जा रहा है और अन्त में आप-ही-आप सुखासन जम जाता है।

कभी ऐसा प्रतीत होता है कि लहर-पर-लहर उठ रही है और धीरे-धीरे सहस्रार को छूने जा रही है। उस समय हृदय एक अलौकिक आनन्द से भर जाता है। यद्यपि बाहर से हम पत्थर की मूर्ति की तरह हो जाते हैं फिर भी अन्दर से एकदम जाग्रत् रहते हैं। यह वह क्रिया है जिस पर तान्त्रिक बहुत ज़ोर देते हैं। पूर्णयोग में इसकी कोई विशेष प्रकार की नियत विधि नहीं है; जब हमारी सम्पूर्ण निम्न चेतना ऊर्ध्व की ओर प्रधावित होती है तब हम उसे आरोहण (Ascent) कहते हैं और जब ऊपर से दिव्य चेतना की गंगाधारा अवतरित होती है तब उसे हम अवरोहण (Descent) कहते हैं। जब ऊपर से दैवी सम्पदाएँ पूर्ण वेग के साथ उतरती हैं तब कभी ऐसा बोध होता है कि प्रकाश का समुद्र उमड़ रहा है, आनन्द की तरंगें उठ रही हैं और कभी ऐसा अनुभव होता है कि हम शान्ति के सागर में गोता लगा रहे हैं, और जब हमारी चेतना ऊर्ध्व की ओर गमन करती है तब आँखों

के आगे से परदे पर परदा हटने लगता है, स्तर पर स्तर खुलने लगता है। उस समय कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हम शरीर के बन्द पिंजरे से निकल कर उन्मुक्त गगन में मुक्त पक्षी की तरह विचर रहे हैं; कभी ऐसा अनुभव होता है कि सभी प्रकार की सीमाओं के बन्धन टूट गये हैं और हम असीम आकाश के साथ एकाकार हो गये हैं; कभी ऐसा मालूम होता है कि हम विभिन्न प्रकार के अलौकिक लोकों में भ्रमण कर रहे हैं। ये ही अनुभूतियाँ हमें विश्व-चेतना तक का रसास्वादन कराती हैं।

पूर्णयोग में आन्तर सत्ता का बाहर आना और बाह्य चेतना का अन्दर जाना आवश्यक है। इन दोनों के बीच की लौह दीवार के टूटते ही यह अनुभव होने लगता है कि योग में जो कुछ पहले असाध्य और असम्भव प्रतीत होता था, वह अब हमारी पहुँच में है। हमारे अन्दर का सच्चा योगी (Psychic) जब बाहर आता है और साधना में प्रमुख भाग लेता है तब हम विजय-यात्रा का वर पा जाते हैं।

(क्रमशः) —स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु'

एक साधिका के नाम पत्र

हर एक के लिए पहली आवश्यकता है, उसका अपना रूपान्तर और जगत् की सहायता करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है, स्वयं भगवान् को उपलब्ध करना। ५ फ़रवरी १९७२

हमारी सत्ता की गहराइयों में, चिन्तन की नीरवता में एक ज्योतिर्मयी शक्ति हमारी चेतना में एक विशाल और ज्योतिर्मयी शान्ति की बाढ़ ले आती है जो सभी तुच्छ प्रतिक्रियाओं पर छा जाती है और हमें भगवान् के साथ ऐक्य के लिए तैयार करती है—यही वैयक्तिक जीवन का एकमात्र प्रयोजन है। ६ फ़रवरी १९७२

अतः, जीवन का प्रयोजन और उद्देश्य दुःख और संघर्ष नहीं, बल्कि एक सर्वशक्तिमान् और सुखी उपलब्धि है।

बाक़ी सब कुछ दुःखद भ्रम है। ७ फ़रवरी १९७२

जब पहले मानवजाति की रचना हुई तो अहंकार एक करने वाला उपकरण था। सत्ता की विभिन्न अवस्थाएँ अहं के चारों ओर वर्गीकृत थीं; लेकिन अब जब अतिमानवता के जन्म की तैयारी हो रही है, अहंकार को लुप्त होना और चैत्य सत्ता को स्थान देना होगा जो धीरे-धीरे भागवत हस्तक्षेप द्वारा मानव सत्ता में भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए निर्मित हो चुकी है।

चैत्य के प्रभाव तले ही भगवान् मनुष्य में अभिव्यक्त होते हैं और इस तरह अतिमानवता के आगमन की तैयारी करते हैं।

चैत्य अमर है और चैत्य द्वारा धरती पर अमरता को प्रकट किया जा सकता है।

तो अब महत्त्वपूर्ण कार्य है, अपने चैत्य को पाना, उसके साथ एक होना और उसे अहंकार का स्थान लेने देना। अहंकार या तो परिवर्तित होने या लुप्त हो जाने के लिए बाधित होगा।

८ फ़रवरी १९७२

पथ पर मनुष्य जो पहली चीज़ सीखता है वह यह है कि देने का आनन्द पाने के आनन्द से कहीं अधिक बढ़ कर है।

तब व्यक्ति धीरे-धीरे सीखता है कि अपने-आपको भूल जाना निर्विकार शान्ति का स्रोत है। बाद में, इस आत्म-विस्मृति में वह भगवान् को पाता है और यही सदा बढ़ते रहने वाले आनन्द का स्रोत है।

श्रीअरविन्द ने एक दिन मुझसे कहा था कि अगर मनुष्य यह जान लें और उन्हें इस पर विश्वास हो जाये तो वे सब-के-सब योग करना चाहेंगे।

९ फ़रवरी १९७२

मानव चेतना इतनी ज़्यादा भ्रष्ट है कि मनुष्य भगवान् के प्रति सच्चे समर्पण से प्राप्त होने वाले ज्योतिर्मय आनन्द की अपेक्षा अहंकार के दुःख-दैन्य और उसके अज्ञान को अधिक पसन्द करते हैं। उनका अन्धापन इतना अधिक है कि वे परीक्षण करने से भी इन्कार करते हैं और दुःख-दैन्य से पिण्ड छुड़ाने के लिए प्रयास करने की अपेक्षा अपने अहं के आधीन होना ज़्यादा पसन्द करेंगे।

वे इतने अन्धे हैं कि अपने-आपको भगवान् के अर्पित न करना पड़े इसके लिए, यदि सम्भव हो तो वे भगवान् को अपने अहंकार का दास बनाने में भी संकोच न करेंगे।

१० फ़रवरी १९७२

परम प्रभो, हमें नीरव होना सिखला। इस नीरवता में हम तेरी शक्ति पा सकें और तेरी इच्छा को समझ सकें।

११ फ़रवरी १९७२

जो लोग हमेशा प्रगति करते रहना चाहते हैं उनके लिए प्रगति करने के तीन मुख्य मार्ग हैं :

१. अपनी चेतना के क्षेत्र को विस्तृत करना।

२. हम जो कुछ जानते हैं उसे ज़्यादा अच्छी तरह और ज़्यादा पूर्णता के साथ समझना।

३. भगवान् को पाना और उनकी इच्छा के प्रति अधिकाधिक समर्पण करना।

दूसरे शब्दों में इसका अर्थ हुआ :

१. यन्त्र की क्षमताओं को सदा समृद्ध करते रहना।

२. इस यन्त्र की क्रियाशीलता को सदा बिना रुके पूर्ण बनाते रहना।

३. इस यन्त्र को भगवान् के प्रति अधिकाधिक ग्रहणशील और आज्ञाकारी बनाते रहना।

अधिकाधिक चीज़ों को समझना और करना सीखना। अपने-आपको ऐसी चीज़ों से दूर रखते हुए शुद्ध रखना जो तुम्हें भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण करने से रोकती हैं। अपनी चेतना को भागवत प्रभाव के प्रति अधिकाधिक सचेतन और ग्रहणशील बनाना।

हम कह सकते हैं : अपने-आपको अधिकाधिक विस्तृत करना, अपने-आपको अधिकाधिक गहरा बनाना, अपने-आपको अधिकाधिक पूर्णतया अर्पित करना।

१५ फ़रवरी १९७२

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४८५-८८

मैं तो तुम्हारा वन्दन किया करता हूँ...

नदी के सुरम्य तट पर स्थित शिवमन्दिर पूरे गाँव का आकर्षण केन्द्र था। सवेरे से शाम तक वहाँ भक्तों का ताँता लगा रहता। पल-पल मन्दिर के घण्टे की गूँज वातावरण में फैल जाती और भक्तगणों का हृदय झूम-झूम उठता। धीरे-धीरे इस मन्दिर की प्रसिद्धि अपने पैर अधिकाधिक पसारने लगी। अब तो दूर-दूर के गाँववाले यहाँ भक्तिभाव से माथा टेकने आते। मन्दिर की बाहरी शोभा भी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। पहले था वह गाँव का छोटा-सा साधारण मन्दिर और अब बन गया था सोने के गोपुरम् वाला विशाल मन्दिर जिसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। इस भव्य मन्दिर के पास नदी के किनारे घाट पर धोबियों का एक बड़ा पत्थर पड़ा था। एक समय मन्दिर में प्रतिष्ठित शिवलिंग तथा घाट का पत्थर एक ही पहाड़ के अंग थे, वे संग-संग एक ही पहाड़ी-उपत्यका से चले थे, लेकिन काल की गति ने एक को शिवलिंग का रूप दे दिया और दूसरे को धोबी के पत्थर का।

धोबी का पत्थर हमेशा आत्मग्लानि से भरा रहता। मन्दिर की बढ़ती हुई कीर्ति को देख प्रायः वह गहरी साँस लेकर सोचा करता—"विधि की विडम्बना तो देखो, समान पिता की एक सन्तान दिन-रात लाखों-करोड़ों भक्तों के द्वारा पूजी जाती है। रोज़ दूध की नदियों से उसका अभिषेक होता है और दूसरी सवेरे से शाम तक धोबियों से पिटती है। उसका दिन-रात अभिषेक होता है मैल-भरे गन्दे पानी से। हे भगवान्, कौन कैसा भाग्य लेकर इस संसार में आता है!"

वह रात पूर्णिमा की रात थी। आकाश में पूर्णचन्द्र अपनी छटा बिखेर रहा था। एक अपूर्व शान्ति ने सारी पृथ्वी को अपने अंक में भर लिया था। इधर नदी का पानी बहता सोना जान पड़ रहा था उधर मन्दिर का सुनहरा गोपुरम् चारों दिशाओं में स्वर्ण-वृष्टि कर रहा था। ऐसे पवित्र वातावरण में जब सभी चराचर अनायास उल्लसित हो उठते हैं, उस परमेश्वर के प्रति मूक कृतज्ञता में नतमस्तक हो उठते हैं, धोबी का पत्थर और अधिक दुःखी हो उठता। उस रात अपना दुःख सह पाने में असमर्थ वह शिवलिंग को सम्बोधित कर बोल उठा—"भाई, धन्य हो तुम, देवमन्दिर में स्थित

हो। भवसागर के बन्धनों में जकड़े हुए हज़ारों लोग तुम्हारे पास आकर असीम सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं। कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि समान पिता की एक सन्तान देवकोटि तक पहुँच जायेगी, लोग उसकी चरणधूलि सिर से लगा कर कृतकृत्य हो उठेंगे और दूसरी लोगों के पैरों तले रौंदी जायेगी। सचमुच, कभी-कभी सोचता हूँ कि अगर तुम्हारे जैसा भाग्य मुझे भी मिला होता तो आज मैं इस हालत में न होता।"

शिवलिंग आत्मप्रशंसा सुन कर गम्भीर हो उठा, कुछ देर बाद स्नेहभरी वाणी में बोल उठा—"मेरे भाई! इतने दुःखी मत होओ क्योंकि तुम्हारा दुःख निरर्थक है। जानते हो, मैं तो लोगों को क्षणिक शान्ति, क्षणिक सुख प्रदान करता हूँ लेकिन महानतर हो तुम जो निर्विकार भाव से हर एक का मैल धोते रहते हो। तुम्हारी साधना अधिक महान् है। सचमुच मेरे पास आने से पहले स्वच्छता की पहली कसौटी तो तुम ही हो इसीलिए जब लोग मेरी पूजा करते हैं तो मैं मूक भाव से निरन्तर तुम्हारा वन्दन किया करता हूँ।"

मूक, निश्चल, गद्‌गदहृदय हो चमक उठा घाट का पत्थर। जो देख सकते थे उन्होंने देखा, मन्दिर का गोपुरम् सोने की वर्षा कर रहा था, नदी में सोना बह रहा था और इधर घाट के पास सुनहरे रंग का बड़ा-सा पत्थर चमक रहा था। जो दिन-रात औरों के मैल धोता रहता था, उसने आज अपना मनोमालिन्य धोकर अपने-आपको सोने में रूपान्तरित कर लिया था।

अब घाट का पत्थर दुगुने उत्साह के साथ लोगों का मैल धोने लगा।

—वन्दना

हम भगवान् के सच्चे सेवक बनना चाहते हैं।

"परम प्रभो, पूर्ण चेतना, केवल तुम ही सचमुच जानते हो कि हम क्या हैं; हम क्या कर सकते हैं, हमें जैसे तुम्हारी सेवा करनी चाहिये उस तरह करने के योग्य बनने के लिए हमें क्या प्रगति करनी चाहिये। हमें अपनी सम्भावनाओं के बारे में सचेतन बनाओ, साथ ही हमारी कठिनाइयों के बारे में भी, ताकि हम निष्ठा के साथ तुम्हारी सेवा करने के लिए उन पर विजय पा सकें।"

परम सुख है भगवान् का सच्चा सेवक बनने में।

१४ फरवरी १९७२ *—श्रीमाँ*

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st September 2018
Rs. 15.00 (Monthly)

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363